प्रतिभा सक्सेना

दो शब्द

यह मेरी दूसरी प्रकाश्य कृति है। पहले और आज के लेखन के बीच एक गहरा अन्तराल है— रुकी हुई लेखनी को पुनः सक्रिय करने का श्रेय 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के सम्पादक श्री मनोहर श्याम जोशी को है।

दो उपन्यासिकाएँ 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के पृष्ठों ने ही पाठकों के सामने रखी थी। इस कार्य के सम्पादन में जिनका स्नेहमय सहयोग मिला है उन्हें धन्यवाद न देकर स्वयं आभारी ही रहना चाहती हूँ। तीसरी कृति पर आपकी प्रतिक्रियाएँ जानना चाहूँगी।

जीवन जैसा है, उसे अभिव्यक्त करने का प्रयास करती हूँ—कहाँ तक सफल हुई हूँ इसका निर्णय तो मेरे पाठक ही करेंगे।

प्रतिभा सक्सेना

8/227 A, आर्यनगर,
कानपुर
21 अप्रैल, 1980

घर मेरा है!

कभी-कभी दिनों, नहीं हफ्तो लगता रहता है जैसे सिनेमा की रील हो—मैं मात्र एक दर्शक रह जाती हूं। रोज के काम उसी तरह चलते हैं, झाड़-बुहारी करती हूं, दूध गरम करती हूं, ठण्डा करती हूं, बच्चों के हाथ मे गिलास पकड़ा देती हूं। समय से खाना बनाती हूं, स्कूल जाती हू, कक्षाओं में जा-जाकर पढाती हूं, शाम को फिर वही रोज-मर्रा के काम—सब कुछ उसी तरह। सब के साथ हँसती भी हू, पर केवल मुंह से, मन वैसा ही अवसन्न-सा रहता है। सब ऊपर-ऊपर से बीतता चला जाता है। इस स्वप्न-जैसी स्थिति से चौंक कर जब जागती हूं, तब कोई बात मन की सतह तक पहुंचती है।

बिट्टू-टिक्की लड रहे है। दोनों में मारपीट हो रही है—चीख-पुकार की आवाज मेरे कानों मे आती है।

'बिट्टू...,' मैं आवाज देती हूं।

कोई जवाब नहीं आता। हाथ का काम छोड़ कर उधर जाती हूं—उसने टिक्की के बाल मुट्ठी मे पकड़ रखे हैं, वह चीख रही है। मैं यन्त्रवत् बढती हूं।

'चटाक्' एक चाटा पड़ता है बिट्टू के गाल पर।

वह बिलबिला उठता है। टिक्की स्तम्भित-सी खड़ी है। गाल सहलाते बिट्टू मेरी ओर ताक रहा है, रोना तक भूल गया है। गाल पर अँगुलियों के निशान।

पांच साल का बच्चा सिसकी भर-भर कर रोने लगा है।

अरे, मैंने यह क्या किया ?

मैं आगे बढ़ कर उसे अपने से चिपटा लेती हूं, भयभीत टिक्की

मेरे पास सिमट आई है।

यह क्या कर डाला मैंने, मेरी आंखों मे आंसू भर आते है। बच्चे को मैं थपक रही हूं, वह चुपा गया है।

बिट्टू मेरी ओर देखता है—

"मम्मी, लोओ मत, मेले जोल छे नई लगा।"

मेरे रुके हुए आंसू टपकने लगते हैं—यह चाटा तो मेरे ही गाल पर पडा है, बेटा।

आखिर कब तक झेलती रहूं ये विडम्बनाए। मन बहुत उद्विग्न है। मै अकेली हूं, सभी मोर्चो पर लड़ने के लिए।

एक है स्कूल का मोर्चा। वह मोटी-सी असन्तुलित मस्तिष्क वाली हेडमास्टरनी हमेशा धौंस जमाती रहती है। जो उसके आगे-पीछे घूम कर जी-हुजूरी नही करता, उसी के पीछे पड़ जाती है। मेरे पास कहां है इतना समय। स्कूल से घर भागती हूं और घर से स्कूल। शायद ही कोई मास्टरनी किसी दिन समय से लौट पाती हो। विवाहित और बच्चे वालियो से तो जैसे दुश्मनी हो उसकी। कोई-न-कोई काम निकाल कर रोज एक-डेढ घण्टा छुट्टी के बाद रोक लेती है। लौटते समय साथ होता है जाचने के लिए कापियो का गट्ठर।

दूसरा मोर्चा है घर। हम दोनो नौकरी करते है, सब को बड़ी-बड़ी आशाएं है, बड़ी-बडी फरमाइशें है। सभी को मुझसे शिकायत है। मुझे छुट्टियों में सब को घर बुलाना चाहिए, तीज-त्योहार करवाने चाहिए, उनके छोटे-मोटे शौक पूरे करने चाहिएं।सब कहते है मै हर बात मे पीछे हटने लगती हू—'ये' भी यही कहते हैं। शिकायत का दस्तावेज सुनने के लिए मैं अकेली हू, 'ये' वहा भी मेरे साथ नहीं हैं।

और एक है मन का मोर्चा, जहां अपने विगत और वर्तमान का लेखा-जोखा मुझे अकेले ही करना पडता है। वहां किसी का कोई दखल नही—इनका तो बिल्कुल ही नही। अच्छा ही है, होता तो हम लोगों के बीच की दूरी और बढ जाती।

टिक्की छोटी थी तो सासजी साथ ही थी। जितनी मुझे लौटने में देर होती, उतना ही उनका पारा चढता जाता। मर्दों को देर हो तो

क्या हुआ, उन्हें तो हजार काम रहते हैं, मुझे तो समय से घर आना ही चाहिए।

घर मे पांव रखते ही सुनने को मिलता, "इतनी देर से लड़की रो-रो कर हलकान हो रही है। मैं तो खडे-खड़े, घूमते-घूमते थक गई। तुम्हारे लौटने का तो कोई टाइम नही...।"

दूध की शीशी अभी-अभी उन्होने उसके मुह मे लगाई है। मैं आगे बढ़ कर उसे लेने को हाथ फैलाती हूं। वे झटक देती है, "जाओ, दही जमा लो अपने दूध का। नही आएगी वह !"

मुझे बहुत भारीपन लग रहा है। ब्लाउज दूध से तर हो गया है। आंचल में लगे दूध के धब्बे जाने कितनी बार पानी से धो-धो कर मुझे ही साफ करने पड़ते हैं।

टिक्की दूध पीते-पीते सो गई है। सासजी भी उसी के पास लेट गई है। वह गाना गाने लगी है, गाते-गाते आखें मूंद लेती है। मैं चुपचाप सो रही हूं।

ढेरों कपडे, जो मेरी अनुपस्थिति मे बच्ची ने गन्दे किए है, खाट के नीचे से मुझे मुंह चिढा रहे हैं।

उस दिन स्कूल से लौटने मे फिर बहुत देर हो गई। रेणुका भी थी साथ मे। बोली, "घर पर सब लोग कुडकुड़ा रहे होंगे, आज फिर इतनी देर हो गई।"

"सच बात है...," उसने गहरी सांस ली, "कौन सोचेगा—ये भी थक जाती होगी।"

सब यही सोचेंगे कुर्सी पर बैठकर आ रही हूँ। रोज साड़िया बदल-बदल कर मौज मारने जाती हूं। घर मे घुसते ही सब की शिकायत भरी दृष्टियां और दिन भर की परेशानियों का चिट्ठा सुनना—'बिट्टू लड़ता है, टिक्की रोती है, आज चार बार कपड़े गन्दे किए, प्याला फोड़ दिया, बिल्ली दूध पी गई।' एक वही निष्कर्ष 'और घरों में भी तो बच्चे हैं, मेरे बच्चे सबमे अधिक बिगड़े हुए है, सबसे

ज्यादा नालायक हैं।'

बच्चों की ओर देखती हूं, उनकी आंखों मे वही सहमापन। किससे क्या कहूं।

शाम को 'ये' आते हैं, वही रिपोर्ट फिर सुनाई जाती है और 'ये' डांटना-फटकारना शुरू करते हैं। मुझ पर झल्लाते हैं कि बच्चों को समझाती-सुधारती नहीं।

मा जी का वही रोना-धोना—उनसे बच्चे नहीं सम्भाले जाते। उनका अब जाने का मन है।

मैं काम करती जाती हूं, सुनती जाती हूं। बिट्टू के बाद साल भर की छुट्टी ले ली थी तो वह बड़ी सन्तुष्ट रहती थी। खाना खा कर पड़ोस में बैठने, मन्दिर में कथा-वार्ता सुनने निकल जाती थी। कभी-कभी 'ये' टोकते भी थे—"ये रोज-रोज क्यों निकल जाती हैं, घर पर टिकती ही नहीं...।"

मैं जवाब देती, "चलो, अभी तो मैं घर पर हूं, बाद में इन्हें ही सम्भालना है।"

अगर मैं फिर घर पर रह कर उनकी सेवा करने लगूं तो वे खुश रहेंगी। फिर कहीं जाने को नहीं तैयार होंगी। लेकिन फिर...घर-खर्च कैसे चलेगा।

मैंने तो इनसे एक दिन कहा था, 'तो फिर 'विदाउट पे' छुट्टी ही ले लूं!"

"उससे क्या होगा? बच्चे सुधर जाएंगे? हर दूसरे साल 'विदाउट पे' छुट्टी लो तो नौकरी की जरूरत ही क्या है?"

"ठीक है तो छोड़ दूंगी।"

'ये' नाराज होने लगे, "तो पहले की ही क्यों थी? बेकार मैंने इतनी दौड़धूप करके लगाया। और लोग नौकरी के लिए सालों भटकते हैं। बी.ए., एम.ए., को तो कोई पूछता नहीं, इण्टर पास को मिल गई तो छोड़ देने को उतारू। मुझे क्या, फिर बाद में पछताओगी। यह तो नहीं कि बी.ए. कर लो, ग्रेड भी बढ़ सकता है...।"

हां, नौकरी के लिए मैंने स्वयं कहा था। मैंने सोचा था पैसे से

सब कुछ खरीदा जा सकता है—सुख, शान्ति, सन्तोष, अच्छा रहन-सहन, मनोरंजन, मान-सम्मान। पर तब यह नही सोचा था कि छोटी-सी नौकरी पर जितनी आशाएं बांध रही हूं वे मृगतृष्णा ही सिद्ध होंगी। मिली है मुझे तन-मन की क्लान्ति, अब अशान्ति और शिकायतें। सब की फरमाइशें बढ़ गई है, घर के खर्चे बढ गए हैं। परिवार में कोई भी काम होने पर सब हमीं से आशा लगाते हैं।

हर जगह सुनने को मिलता है, "तुम दोनों लोग तो कमाते हो।" जहां जरा हाथ समेटा सबके मुंह फूल जाते हैं। कही भी जाने पर किसी-न-किसी की फर्माइश आ जाती है। 'ये' आकर कहते है, "अरे, ये एम. ओ. से वापस भेज देंगे। अब यहां और किससे मागें। तुम दे दो न पचास रुपये।"

वापस अब तक तो कभी मिले नही। लेने वाला सोचता है, "चल, भागते भूत की लंगोटी ही सही।"

'ये' सब की फरमाइशो को पूरा करना, सब को सन्तुष्ट करना चाहते है। मेरी जरूरतें तो और भी सिमट गई हैं। एक-एक क्रीम की शीशी के लिए हफ्तों टालती रहती हूं।

माजी रोज-रोज सुना देती है, "अब मैं चली जाऊंगी।"

आखिर कहां तक रोकूंगी उन्हें, सम्भालना तो मुझे ही है, वहां उनके जीवन में उत्सव है, त्योहार है, शादी-ब्याह है, गाना-बजाना है, सखी-साथिनें हैं—रस और आनन्द से छलकता जीवन ! यहां क्या है—व्यस्तता, भागदौड़ और खीझ। वे क्यो रहेगी मेरे पास।

सुबह उठते ही दौड़-दौड़ कर काम निबटाना, फिर जल्दी-जल्दी स्कूल भागना—रास्ते में नाखूनों और चूड़ियों में लगा आटा छुटाते रहना। जल्दी इतनी होती है कि नहाने के बाद दुबारा हाथ-पाव भी नही धो पाती। जल्दी-जल्दी जूड़ा लपेट कर बिन्दी लगाई और उल्टे-सीधे कपड़े पहन कर भागी। चलते-चलते याद दिलाती जाती हूं, 'बिट्टू का डब्बा तैयार रखा है, कल की सब्जी अलग कटोरी से ढकी है...' आदि-आदि।

मेरा खाना ? भागते-दौड़ते खा ही लेती हूँ—भूखा कहां तक,

रह सकता है कोई।

बिट्टू के पहले दो बच्चे जबसे होकर नही रहे, तब से जाने क्या हो गया है—न तो ठीक से भूख लगती है, न खाली पेट देर तक रहा जाता है। जी घबराने लगता है। सब कहते हैं, 'तुम्हारी तो शकल ही बदल गई।'

पडोस के लोग अपने बच्चों को मेरा क्या परिचय देते हैं, "देखो, ये बेहन्जी हैं। स्कूल मे बच्चों को पढाती है। तुम गडबड करोगे तो तुम्हे भी मारेंगी।"

बच्चा भयभीत-सा मेरी ओर देखता है।

पड़ोसिनें आपस मे बात करती है तो मेरे लिए—'वो माश्टन्नी' कहती है। क्यों ? क्या मैं किसी की मां नही, किसी की पत्नी नहीं, किसी की बहू नही, मेरा कोई नाम नही। दूसरी पडोसिनें 'आण्टी' हैं, चाची है, वर्माइन है, शर्माइन है, ऊपर वाली है—मैं सिर्फ 'बेहन्जी' हूं, माश्टन्नी हू।

मुझे इस शब्द से नफरत हो गई है।

बाहर के कमरे से इन्होने आवाज लगाई, "अरे, सुनती हो, दूध उबलने ही वाला है।"

'ये' खुद ही चौके के दरवाजे पर आ गए, "नरेश आ रहा है हम लोगो के साथ रहने के लिए। अब बच्चों को अकेला नही रहना पड़ेगा।"

"क्यों ? काहे के लिए ? जब मैं बीमार थी और आने के लिए लिखा था तब तो कोई नही आया, अब कैसे याद आ गई ?"

"ऊंह, तुम्हें तो यही सब याद रहता है। अब आ रहा है तो क्या मना कर दें ?"

"कुछ काम है क्या ?"

इन्होने पत्र मेरी ओर बढा दिया।

अच्छा तो यह बात है। टाईपिंग और शार्टहैण्ड का कोर्स करना

है, और भी कोई ट्रेनिंग है, वह भी ज्वाइन करना चाहते है। लिखा है—पिताजी नही मान रहे है, वह अभी से नौकरी कराना चाहते हैं। दादा, आप चाहें तो करा सकते है, डेढ़-दो साल ही की बात है, फिर अच्छी नौकरी लग जाएगी तो मैं भी कुछ समझूगा ही ! अम्मा कहती है आप दोनों नौकरी करते है, भाभी को मुझसे कुछ सहारा ही मिलेगा...।'

अच्छा तो जिम्मेदारी भी मेरी और अहसान भी मेरे ही सिर !

जब बच्चे छोटे थे, तब तो कोई आया नही, माजी भी रो-धो कर चली गईं। उन दिनो नरेश भी आए। दस-पन्द्रह दिन रहे। सारी सुविधाए मैने दी, जो चाहते थे, वही करती थी। फिर भी बच्चों से अनखाते रहे और जब मन चाहा बाहर चले गए। अब तो उनकी फर्माइशें मुझसे पूरी नही होंगी—कभी पिक्चर, कभी आइस-क्रीम, कभी दोस्तों को चायपानी। बच्चो की कीमत पर अब नही करूंगी यह सब। बिट्टू और टिक्की अब समझदार हो रहे है। दूसरा कोई उन्हे रोके-टोके, डांटे-फटकारे, दबाए-धमकाए, अब सहन नही करूंगी।

'ये' अभी तक चौके के दरवाजे पर ही खड़े है।

"यहा कैसे हो पाएगा ?" मैं कहती हूं।

"क्यों ? अब तक भी तो बीच-बीच मे कोई रहता ही रहा है।",

"कैसे रहा है, यह मैं जानती हूं। तुम तो सुबह चले जाते हो, शाम को लौटते हो। अब वह सब मेरे बस का नही है।"

"तुमसे कौन करने को कहता है ? वह कोई बच्चा है जो तुम्हें सम्भालना पडेगा ?"

"अब मेरी इतनी सामर्थ्य नही है। अकेले मैं चाहे रोटी का नाश्ता कर लू, चाहे डबल रोटी का, उनके लिए तो मुझे ताजा परोसना पड़ेगा, खाना भी विधिपूर्वक बनाना होगा, नही तो वे मुंह बिचकाते है और सबके सामने चार बातें मुझे ही सुननी पड़ती है।"

"मना कर देना तुम। मत बनाना चाय-नाश्ता। और रोटी भी न बना सको तो अपनी-उसकी मैं बना लूगा।"

बस अपनी-उसकी !

"अब तक तो कभी मुझे बीमारी में भी बना-बनाया खाने को नही मिला, अब अपनी-उसकी खुद बनाओगे ?"

"मुझसे तो मना नही किया जाएगा !" इन्होंने निर्णय दे दिया।

चार दिन से यही झगडा चल रहा है। अब तक छोटे-छोटे बच्चे थे, तब सब को परेशानी होती थी। यह सब जब मैंने सम्भाल लिया तब अब किसी की क्या जरूरत। मेरी दी हुई सुविधाओ को तो वे अपना अधिकार समझते है। अब निश्चय कर लिया है किसी से कुछ आशा नही रखूगी। किसी और के रहने पर बच्चे भी कैसे दबे-दबे रहते हैं। इन लोगो के आलोचनापूर्ण वाक्य दोनो को कैसा कुण्ठित-सा कर देते हैं।

इधर कुछ सालो से घर में शान्ति है। मैंने भी कुछ अच्छे कपडे बनवा लिए, घर मे आराम और सुविधा के कुछ सामान भी आ गए। पर नरेश की इस चिट्ठी ने फिर वही वातावरण बना दिया। जब आएगे—हर चीज को देख-देख कर चौंकेंगे। 'अरे यह कब खरीदी ? यह मेज-कुर्सी कब ली ? साथ ही ली ? कैश ली या किश्तो पर ? आप लोगो के ठाठ हैं !'

एक बार जब टिक्की बीमार पड़ी तब दवा लाने के लिए कहने

पर यही नरेश कहते थे, 'भाभी, रिक्शे के पैसे दे दो तो ला दूं। इतनी धूप में हम से तो पैदल नहीं जाया जाएगा।'

बचे हुए पैसे कभी वापस नहीं मिलते थे। कभी मांगे भी तो जवाब मिला, 'इत्ती देर हो गई थी, वहां लस्सी पी ली।' इन्जेक्शन लगवाने तक इनको साइकिल पर बिठाल कर नहीं ले जा सकते थे। तब तो कभी-कभी 'ये' भी झींक जाते थे, कहते थे, 'जब कुछ सहारा ही नहीं, तब इन्हें रखने में फायदा ही क्या ?' अब फिर उधर ही ढल गए।

नरेश तो बाहर से आते ही कहते हैं. 'भाभी, चाय पिलवाओ।'

'अरे, चाय के साथ कुछ है या नहीं...।'

मैं चाय-नाश्ते में लगी रहती, बच्चे दौड़-दौड कर पहुंचाते रहते। फिर आकर धीरे-से मुझसे पूछते हैं, "मम्मी, हम भी खा लें ?"

"क्यों, पापा और चाचा ने तुमसे नहीं कहा खाने को ?"

"...।"

अपने पास ही पटरा डाल कर मैं उन्हें बिठाल लेती हूं। प्लेट में रख कर नाश्ता पकडाती हूं। छोटे-छोटे हाथ मुह की ओर जा रहे है, इतने में आवाज आती है, 'बिट्टू, एक गिलास पानी।"

वह कौर प्लेट में डालकर दौड जाता है। आहत-सी देखती रहती हूं। कुछ बोल दूगी तो सुनने को मिलेगा, 'बच्चो को बिगाड़ती हो।,

ऐसे कई दृष्य स्मृतिपटल पर घूम जाते है।

मैं अब बिल्कुल नही चाहती कि कोई आकर रहे। 'ये' मुझे तैयार करने की हर कोशिश करते हैं। समझाना-बुझाना, लडाई-झगडा सब आजमा चुके है। अन्त मे कहते है, "अच्छा, मैं ही उसे लेकर अलग रह जाऊंगा।"

यह इनका सबसे बड़ा हथियार है। मैं बच्चों को लेकर अकेली नहीं रह पाऊंगी, यह 'ये' जानते हैं।

मैं सब तरह से हार गई हूं।

है, 'अब मेरी मर्जी के खिलाफ इस घरमे किसी का दखल नहीचनेगा'।

'ये' कुछ नही बोले, तमतमाते हुए बिना खाना खाए आफिस चले गए।

शाम को फिर बोलचाल हुई तो बोले, "तुमने उसी वक्त क्यों नही मना कर दिया था?"

"मुझसे किसी ने कुछ पूछा भी था? और बात तो तुमसे हो रही थी।"

"तुम कह तो सकती थी।"

"सबसे बुरी बनने के लिए मैं ही रह गई हूं। मुझे तो वह कुछ समझती ही नही, मैं क्यों तुम लोगों के बीच बोलू?"

"तो अब क्यों बोल रही हो?"

"घर मे जो कुछ करना है, मुझे ही करना है इसलिए...।"

बात तब से शुरू हुई जब पिछले दिनों बड़ी ननद आई थी। सासजी से पहले ही सलाह-मशविरा हो चुका था। अब तो उस निर्णय को हम पर थोपने आई थी। पहले तो इन्हें ही बुलाया था, पर 'ये' जा नही पाए थे। नही तो इनके साथ ही पुत्तन को भेज दिया जाता।

ये लोग इधर कमरे मे बात कर रहे थे। चौके मे मुझे सब सुनाई दे रहा था।

"भइया, हम तो पुत्तन के मारे परेशान है।"

"क्यों, क्या हुआ?"

"अरे, दुइ साल से बराबर फेल हो रहा है।"

"अच्छा।"

"इस्कूल के लिए घर से निकलता हैगा और दोस्तों के साथ घूमता-फिरता है। कभी सनीमा, कही नदी किनारे जाने कहा-कहां निकल जाता हैगा।"

'जीजा नही कहते कुछ?"

"वो तो मार-मार के बुरा हाल कर देते हैगे...पर दुई दिन बाद फिर जैसा का तैसा। हम कुछ कहें तो कहता है, घर छोड़ के चले जाएंगे।"

आज सुबह जल्दी ही घर से निकल आई हूं—अब लौट कर नही आऊंगी। रोज-रोज की अशान्ति अब नही सही जाती। बच्चो से कह आई हूं, 'वीना जीजी बीमार हैं, उन्हें देखने जा रही हूं। कुछ दिन वही रहूंगी।'

सवा दस की जगह नौ बजे ही निकल पड़ी हू। खाना बना कर रख दिया है, खाने का मन नही हुआ। वैसे मैं भूखी नहीं रह पाती। पेट खाली होता है तो बार-बार रोना आता है।

घर से जा रही हूं, यह बोध मन को तोड़े दे रहा है। कण्डी मे कपड़े और कुछ जरूरी सामान रख लिया है, दो सौ रुपए मेरे पास है ही। स्कूल से सीधे बस-स्टेण्ड जाकर सीतापुर चली जाऊंगी। वापस आऊं तो शायद बच्चो का मोह फिर खीच ले।

एक सप्ताह हो गया घर मे अशान्ति मची है। 'ये' बार-बार धमकी दे रहे है, "घर छोडकर अलग रहूंगा जाकर।"

"और बच्चे ?"

"मुझे कोई मतलब नही...।"

"मुझसे मतलब नही, बच्चो से मतलब नही तो फिर मतलब किससे है ? सिर्फ उन्हीं सब से !"

"हां! ...यही सुनना चाहती हो तो सुन लो।...पैसा क्या कमाती हो, हमेशा मनमानी करना चाहती हो...।"

'क्या मनमानी की मैंने अब तक ?"

"क्या नही की ? इसी बात मे देख लो न। कौन अपने घर वालों का नही करता ?"

"मुझे कोई अपना समझता ही नही।"

"तुम्हारा स्वभाव ही ऐसा है। मुझसे किसी को शिकायत क्यों नही है ?'

"हां, तुम क्यों नही भले बनोगे, बुरी तो मैं ही हूं।"

इनके मुंह से अपने स्वभाव की बात मुझे बुरी तरह खटक रही है। सारी दुनिया कह ले तो ठीक, पर 'ये' भी...।

अब तो मैं इनमे समझौता नही कर सकूगी। मैंने साफ कह दिया

है, 'अब मेरी मर्जी के खिलाफ इस घरमे किसी का दखल नहींचलेगा'।

'ये' कुछ नहीं बोले, तमतमाते हुए बिना खाना खाए आफिस चले गए।

शाम को फिर बोलचाल हुई तो बोले, "तुमने उमी वक्त क्यों नही मना कर दिया था?"

"मुझसे किसी ने कुछ पूछा भी था? और बात तो तुमसे हो रही थी।"

"तुम कह तो सकती थी।"

"सबसे बुरी बनने के लिए मैं ही रह गई हूं। मुझे तो वह कुछ समझती ही नही, मैं क्यों तुम लोगों के बीच बोलू?"

"तो अब क्यों बोल रही हो?"

"घर में जो कुछ करना है, मुझे ही करना है इसलिए...।"

बाततब से शुरू हुई जब पिछले दिनो बडी ननदआई थीं। सासजी से पहले ही सलाह-मशविरा हो चुका था। अबतो उस निर्णय को हम पर थोपने आई थी। पहले तो इन्हें ही बुलाया था, पर 'ये' जा नही पाए थे। नही तो इनके साथ ही पुत्तन को भेज दिया जाता।

ये लोग इधर कमरे में बात कर रहे थे। चौके में मुझे सब सुनाई दे रहा था।

"भइया, हम तो पुत्तन के मारे परेशान है।"

"क्यों, क्या हुआ?"

"अरे, दुइ साल से बराबर फेल हो रहा है।"

"अच्छा।"

"इस्कूल के लिए घर से निकलता हैगा और दोस्तों के साथ घूमता-फिरता है। कभी सनीमा, कही नदी किनारे जाने कहां-कहां निकल जाता हैगा।"

'जीजा नहीं कहते कुछ?"

"वो तो मार-मार के बुरा हाल कर देते हैगे...पर दुई दिन बाद फिर जैसा का तैसा। हम कुछ कहे तो कहता है, घर छोड़ के चले जाएंगे।"

"बड़ी अजीब बात है।"

"तुम्हारे पास रहकर पढ़ जाए तो बड़ा अहसान मानें, भइया।"

"यहां वो हमारी सुनेगा ?"

"काहे नहीं ? दुलहिन तो खुद मास्टरनी हैं, घर पे डांट के पढ़ाती भी रहेंगी। फिर एक बार इस्कूल में चल जाए तो फिर पढ़ने लगेगा। यहां तो यार-दोस्त भी नही हैं।

"भइया...हम तो पढ़ी-लिखी हैं नहीं। मास्टर लगाया तो उसकी सुनता नहीं...।"

"अरे सुनती हो..." इन्होंने आवाज लगाई, "जिज्जी कुछ कह रही है।"

जिज्जी ने मुझे नहीं बुलाया था, मुझे मालूम है। पर मैं आ जाती हूं।

बड़ी दयनीय बन कर जिज्जी समस्या प्रस्तुत करती है। मैं झिझकती हूं। वह फिर कहती हैं, "खर्च की फिकर न करो, जो पचास-पचत्तर पड़ेंगे हम भेजते रहेंगे।"

मैं अब इनकी असलियत समझने लगी हूं। एक नरेश ने बच्चों को सम्भाला था, एक यह खर्चा भेजेंगी।

"पर मेरे करने से कैसे होगा ?"

अब जिज्जी ने अपना असली हथियार निकाला, "मैं अम्मा से पहले ही बात कर आई हूं। कह रही थी, 'काहे नाही रखेंगी। मामियां क्या भांजे के लिए इत्ता भी नहीं करतीं।' फिर तुम्हें तो और सहारा ही रहेगा।"

पुत्तन-जैसे बिगड़े हुए लड़के से मुझे सहारा ! हर चीज समय पर उसे हाथ में चाहिए, नहीं तो 'मास्टरनी'-'मास्टरनी' कह कर शोर मचाएगा। बच्चों को चिढ़ाएगा, रुलाएगा। मांजी और जिज्जी तो यही चाहती हैं कि उनकी खातिर में लगी रहूं। ना, ना, उसके साथ तो मेरे बच्चे बिगड़ जाएंगे।

"सहारे की मुझे जरूरत अब नहीं जिज्जी। और न पढ़ने वाले को कौन पढ़ा सकता है...फिर मुझे तो इत्ता टाइम भी नहीं मिलता।"

इनके चेहरे पर तनाव आ गया था। ननद को अपने भाई की शह मिल गई थी, सो कहती रही, "तुम न चाहो तो दूसरी बात है दुल्हन। वैसे वो ऐसा तो नही कि किसी की माने नहीं।"

'तभी तो गाली के बिना बात नही करता,' मैंने सोचा।

"हम लोग तय करके फिर बता देंगे, तुम फिकर न करो, जिज्जी!" इन्होंने सान्त्वना दी।

मैं चौके में लौट आई।

वह तो चली गई, पर मेरी जान को फिर एक झंझट लग गई। 'ये' कहते हैं, 'मैंने जिज्जी के सामने खुद को अपमानित अनुभव किया है।'

"जिज्जी ने बचपन में मेरे लिए कितना-कितना किया है, तुम क्या जानो। पहली बार उन्होंने एक काम के लिए कहा और तुमने इस तरह जवाब दिया...मेरी कोई इज्जत नही।"

'मा-बाप लडकियो का करते है, लडकिया भाई-भतीजों का करती हैं, इसमें कौन-सी नई बात है,' मैंने सोचा।

"तुम्हारे साथ किसी ने किया तो सारा बदला चुकाने की जिम्मेदारी मेरी है?...मेरे लिए भी बहुतों ने बहुत कुछ किया है, उनके लिए तुम करोगे?"

"उनके लिए करने का ठेका मैंने नही लिया है।"

मेरे मन मे इनके लिए गहरी वितृष्णा भर उठी है। ओह, सारा जीवन मुझे इसी व्यक्ति के साथ बिताना होगा। न जाने क्यों मुझे अनिमेष का ध्यान आ जाता है। अनिमेष से मेरा कभी कोई सम्बन्ध नही रहा, एकाध बार स्कूलो के गेम्स मे मेरा उसका साथ हो गया था। सामान्य-सा परिचय भर, पर चाय और नाश्ते के समय वह कैसी सहज मुस्कराहट से आग्रह करता है। कुछ बातो से मेरा और उसका मन बहुत मिलता है। खेल-समारोह के कुछ प्रहर उसके साथ मैंने बडी सहज, उन्मुक्त मनःस्थिति में बिताए हैं। उन तीन दिनों मे चार-चार, पांच-पांच बार मुक्त मन से खिलखिला कर हँसी हूं मैं। वैसे उल्लासमय क्षण मेरे जीवन में गिने-चुने ही हैं, इसलिए बहुत

सहेज कर गांठ मे बांधे हुए हूं।

इन्होंने सोचा होगा हर बार की तरह पुत्तन आ जाएगा तब झख मार कर सम्भाल लूंगी ही।

अबकी बार इन्होंने कहा था, "इससे तो अच्छा है छोड़ दो नौकरी! मुझ पर अपनी धौंस तो नही दिखा पाओगी!"

"जब मैं तैयार थी तब तुमने हां न नही की। अब तुम्हारा निर्णय मान लू, यह मेरे लिए जरूरी नही है। फिर शादी के बाद पन्द्रह सालों मे तुमने मुझे दिया ही क्या है? अब तो न तन्दुरुस्ती है, न वह मन ही रहा है। जो दो जीवित हैं, उन्हें उन सुविधाओं से वंचित नही करना चाहती, जो मेरी नौकरी से उन्हें मिल सकती है...अच्छा हुआ जो दो मर गए। उनकी परवरिश भी कहां हो पाई थी ठीक से। अच्छा हुआ जो आपरेशन करा लिया, नही तो...।"

भीतर से शायद 'ये' भी यही चाहते थे, 'तुम करो या न करो, मुझे क्या फरक पड़ता है। मैं तो अपने पर कुछ फालतू खर्चा करता भी नही हू।'

सुबह जब कण्डी लेकर निकली थी तब वही बैठे शेव कर रहे थे। मुझे सुनाई दिया था बिट्टू से पूछ रहे थे, "कहां जा रही हैं, तुम्हारी मम्मी ?"

स्कूल मे मन बड़ा उखड़ा-उखड़ा-सा रहा। किसी तरह खुद को सम्भाल कर बच्चो को पढाती रही। सौभाग्य से आज हेडमास्टरनी नहीं आई थी। छुट्टी के बाद कण्डी उठाकर चलने लगी तो रेणुका पास आ गई।

बोली, "कहां जा रही हो ?"

"सीतापुर।"

"यही से चली जाओगी...," उसने किंचित् आश्चर्य से पूछा। मेरी स्थितियों से बहुत कुछ अवगत है।

"हां। लौट कर जाने से क्या फायदा।" मेरा गला भर्रा गया।

वह एक ओर खीच ले गई।

"रेणु, मुझसे कुछ मत पूछो अभी...," मेरी आंखों में आंसू भर

आए थे, "फिर कभी बता दूंगी, सब।"

"कित्ते दिन की छुट्टी ली है?"

"चार दिन की...अच्छा, अब सब के सामने तमाशा न बनाओ...जाने दो मुझे।"

अपनी रोई आखों को छिपाने के लिए मैं धूप का चश्मा लगा लेती हूं।

"और कुछ सामान नही ले जा रही हो?"

"नहीं। और कुछ चाहिए भी नही...रुपए काफी है मेरे पास।"

वह गेट तक मेरे साथ आई। चलते-चलते कह गई, "कोई खास बात हो तो चिट्ठी लिखना...जरूर...।"

"अच्छा, बाय...बाय!"

मैं हाथ उठा देती हूं।

बाहर कई रिक्शे खड़े हैं।

"बस-स्टेशन?"

रिक्शे वाले एक-दूसरे का मुंह देखते हैं—वे जानते है मैं रोज कहां जाती हूं।

"चलेंगे साब, डेढ रुपया...।"

मैं बैठ जाती हूं। अधिक बोलना मेरे लिए सम्भव नही है। पन्द्रह सालों में यही पाया है क्या मैंने? सोचते-सोचते आंखें भर आती हैं। चश्मा उतार कर आखें पोंछती हूं।

मुझे लग रहा है मेरा चेहरा बड़ा बुझा-बुझा-सा है। 'काले चश्मे के कण्ट्रास्ट मे कुछ पता नही चलेगा,' मैं स्वयं को समझाती हूं।

होंठ बार-बार सूख रहे है, पपड़ी-सी जम जाती है बार-बार। गला खुश्क हो रहा है। खाली पेट तो पानी भी नही पिया जाता। पेट मे जाकर लगता है। सुबह से एक प्याला चाय के सिवा कुछ भी जो पेट मे गया हो।

जी हल्का रहा है। रोएं खड़े हो गए हैं, ठण्ड-सी लग रही है। लगता है गिर जाऊंगी।

नहीं, गिरूंगी नहीं मैं। बड़ी कडी जान है मेरी, सब सह

जाऊंगी। आज तो सुबह से ही नहीं खाया, मैं तो तीन-तीन दिन भूखी रहकर काम करती रही हूं और किसी को कुछ पता ही नहीं चला।

सौतेली मां थी मेरी। मैं गुस्सा किस पर उतारती? बस खाना बन्द कर देती थी। कोई कुछ कहता भी नही था। अपने आप फिर खाने लगती थी। अब क्या एक दिन की भी भूख नही सह पाऊंगी। तब भी कभी-कभी अन्दर से बड़ा अजीब-अजीब लगने लगता था, सिर में चक्कर-सा आता था, आंखों के आगे एकदम अन्धेरा छा जाता, पर दूसरे क्षण फिर ठीक होकर मैं काम मे लग जाती थी।

कभी चौके मे काम करते-करते रहा नही जाता, तो बासी परांठे में नमक चुपड़ कर मुट्ठी मे दबा कर चुपके-से खा लेती थी। एक बार सौतेली बहन ने देख लिया—जाकर मां से जड़ दिया।

तब कैसी झिड़की मिली थी। सब ने समझा था—सामने-सामने ढोंग करती हूं। चुराकर खाने की आदत है। सौतेली मां उपेक्षा से हंस दी थी। मुझे कैसी ग्लानि का अनुभव हुआ था। मेरी सहेलियों के सामने कहने से भी नही चूकी थी वह। कहीं सिर उठाने को जगह नही रही थी। तब तो स्कूल भी नहीं जाती थी, जो कुछ मन बदल जाता। रो-रो कर लाल हुई आंखों से रात मे जग-जग कर इम्तहान की तैयारी करती थी। वे दिन भी काट लिए...।

अरे कितनी देर हो गई रिक्शे पर बैठे। ये कौन-सा रास्ता है? कभी-कभी ऐसा मतिभ्रम हो जाता है कि अनेक बार चले हुए रास्ते भी अपरिचित से लगने लगते हैं। ठीक ही ले जा रहा होगा रिक्शे वाला। अक्सर ही ले जाता है, जानता है—स्कूल की मास्टरनी है।

"बाहर जा रही है, बेहन्जी!" रिक्शे वाले ने पूछा है।

मुझे लगा वह पीछे मुड़कर देख रहा है। मैं मुंह फैला कर मुस्कराने की मुद्रा बनाती हूं। गले से हां की आवाज नही निकलती, सिर हिलाती हूं। काले चश्मे के पीछे से आंसुओं ने बांध तोड़ दिया है, गाल तक बह आए हैं। चश्मा उतार कर आंखें पोंछती हूं।

कोई देख ले तो क्या कहे। स्कूल की मास्टरनी रिक्शे पर रोती चली जा रही है।

पर देखेगा ही कौन ! कोई चुपाएगा नहीं मुझे। खुद चुपा जाऊंगी, फिर बोलने लगूगी, फिर हँसने लगूंगी।

अनिमेष ने एक बार कहा था—"आप गम्भीरता क्यों ओढ़े रहती हैं, ऐसे खिलखिलाकर हँसती हुई ज्यादा अच्छी लगती हैं।"

'मैं अच्छी लगती हूं !' ये तो कोई नही कहता।

रेणु ने एक बार छेड़ने के लिए टोका था—"अनिमेष अच्छा लगता है ?"

मैं गम्भीर हो गई थी—"मन को मुक्त हँसी देने वाला कोई भी हो, अच्छा ही लगता है।"

बस चलने वाली है।

पांवों में अंगूठों के नाखूनों के दोनों ओर बिवाइयां फट गई है, आज बहुत दुख रही हैं। आंखों के आगे बार-बार तारे नाच रहे है।

टिकट बड़ी आसानी से मिल गया, कण्डक्टर बस पर ही चिल्ला-चिल्ला कर दे रहा था। सीट भी दो जनों वाली है।

अरे, यह क्या ? चप्पल पर खून के छींटे ! अंगूठे की बिवाई से निकल रहा है। बस मे पाव पड़ा होगा किसी का। तभी इतना दर्द हो रहा था। मन के दुख के आगे शरीर के बोध कितने क्षीण हो जाते हैं। सब को महत्त्व देकर अपने को नगण्य समझ लिया था और अब नगण्य हो भी गई हूं।

बस में कोलाहल बढ गया है। अचानक झटका लगता है, अब चल पड़ी है। आगे कुछ झगड़ा हो रहा है। लोग धीरे-धीरे व्यवस्थित होकर बैठने लगे हैं, कुछ खड़े हैं।

बारह-चौदह वर्ष का एक लड़का मुह बना-बना कर खट्टा सन्तरा खा रहा है।

"काहे को खा रहे हो, जब खट्टा लग रहा है ?" एक बूढ़े ने टोका।

लड़का उलट पडा, "हमारी इच्छा, हम खावेंगे।"

"मुंह भी बनाउत जैहो और चबाइ तभी जैहो ?"

"तो तुम्हें क्या ? हमने पैसे दिए हैं, खा रहे हैं, तुमसे कुछ कह तो नही रहे।"

"खाओ, भइया खाओ, हमें क्या।"

"हां, हां, हम तो खावेंगे, तुम क्या रोक लोगे हमे ?"

मुझे लड़के की शक्ल अपने बिट्टू जैसी लग रही है—वैसा ही मुलायम दुबला-दुबला चेहरा !

मुझे हँसी आ रही है।

लड़का कहे जा रहा है, "हमे खट्टा लग रहा है हम मुह बना रहे है, किसी को क्या ? ये कौन है हमें मना करने वाले ? वाह...हमने पैसे दिए सन्तरे खरीदे, अब हम फेंक दें क्या ? इन्हे पता नही क्या परेशानी है !

बस के लोग मुस्करा रहे है।

लड़का तैस में है, दरवाजे के पास खडा-खडा लगातार बोल रहा है, "क्या कर लोगे तुम हमारा ? हम खट्टा सन्तरा भी खाएंगे, मुंह भी बनाएंगे। तुम्हें बुरा लगे तो मीठा बदल दो। है तुम्हारे पास मीठा सन्तरा ?"

वह खट्टा सन्तरा बूढे की ओर बढाता है।

कण्डक्टर आता है, "अच्छा भइए, बैठ तो जाओ। पीछे सीट खाली है।"

लड़का बढता है। मेरे पास की सीट खाली है, मैं इशारा करती हूं, वह मेरे पास बैठ जाता है।

खट्टा सन्तरा खाना अब उसने बन्द कर दिया है, बैठ कर अपने हाथों से ताल-सी देने लगा है।

"क्यों भाई, बडे जोर से गुस्सा आ गया," मैं पूछती हूं।

"हां देखिए न, हमने सन्तरा खरीदा, हम खा रहे हैं। किसी को क्या ? वो कहने लगा, 'मत खाओ' हम क्यों न खाएं ? हम तो जरूर खाएंगे। हमें खट्टा लग रहा है, मुंह बनाकर खा रहे हैं। जिसे बुरा लगे, न देखे हमारी तरफ।"

मेरा लड़का भी तो ऐसा ही है। मैं मुस्कराती हूं।

"कहां जा रहे हो?"

"सीतापुर। और आप?"

"मुझे भी वहीं जाना है।"

लड़का निश्चिन्त बैठा है। मैं अपनी कण्डी मे से सन्तरे निकालती हूं। बस-स्टाप पर खरीद लिए थे, कुछ तो सहारा रहेगा।

कुछ फांके लड़के को देकर खाने लगती हू।

घर छोड़ कर आई हूं, मन स्वस्थ नही है। कल फिर इन्होंने आंखो मे आसू भर कर कहना शुरू किया था, "अम्मा अब कितने दिन की और हैं, घर तुम्हारे कारण उन्हें नही रख पाता।"

मेरे कारण! यह क्यो नही कहते कि उन्हें सन्तुष्ट रखने की सामर्थ्य खुद में नही है, मेरे बल पर सब को न्यौत कर खुद निश्चिन्त रहना चाहते हैं।

सासजी कभी स्नेह-सन्तोष से मेरे पास नही रही। उन्हें अपने इन पोती-पोते से भी लगाव नहीं था। मुझे तो खैर, वह स्नेह देती ही क्या! मैं नौकरी करती थी। उनकी और बहुओं के समान रुच-रुच कर व्रत-पूजा नहीं कर पाती थी। मेरी जिन्दगी दौड़-भाग में ही बीती जा रही थी, इस सबके लिए समय कहा था। उनके सामने तो लिहाज के मारे कुछ कर भी लेती थी, अब तो सब छोड़ती जा रही हू।

उनके पुराने सम्बन्ध उन्हें वहीं खींचते थे। मेरे क्या, वे किसी के पास अधिक दिन नही टिकती थी। पुरानी सब चीजो से अलग रह कर उन्हे शून्यता का अनुभव होता था—ऊब लगती थी और हम लोगों पर खीझ निकालती थीं। आनन्द और रस से रहित यह मशीनी जीना उनके बस की बात नहीं थी, इसलिए वह लौट जाती थी। पर 'ये' बराबर मुझे दोषी ठहराते हैं।

अब मेरी सहनशक्ति जवाब देने लगी है। मैं भी जवाब देने लगी हूं, उन्हें और बुरा लगता है। पुराने शिकवे-शिकायतें होने लगते हैं।

"मुझे ही तुमसे क्या मिला? मुझे भी कोई शिकायत हो सकती है, तुमने कभी सोचा।"

"किसी पैसे वाले से ब्याह करतीं।"

"पैसे तो मैं खुद कमा रही हूं।"

"तभी न जूते लगा रही हो।"

'जूते तो तुम लगाते हो और अपनों से भी लगवाते हो। इसीलिए न किसी-न-किसी को बरावर लाकर रखते हो, जिससे तुम मनमानी करो और मैं बोल भी न पाऊं। उनके सामने तो घर में मुझसे जरा-सा भी सहयोग करते तुम्हारी हेठी होती है।"

"ठीक है, मैं अलग कहीं जाकर रह जाऊंगा।"

"बच्चों का ठेका मेरा है ?"

"तुम जानो तुम्हारा काम जाने। मेरा किसी से कुछ मतलब नहीं। मेरा क्या कहीं रह लूंगा कमरा लेकर।"

कितनी बड़ी धौंस है। आदमी औरत को जब और कुछ नहीं दे पाता तब धौंस दिखाकर, धमका कर अपना बड़प्पन जताता है। उसे छूट है, जब चाहे गृहस्थी की जिम्मेदारी छोड़ कर चल दे।

'क्यों न मैं ही कहीं चली जाऊं,' मैंने बार-बार यही सोचा है। धमकियां कहां तक सुनूं, मैं अब भयंकर रूप से ऊब गई हूं।

...और आज मैं चली आई। किसी ने पूछा भी नहीं, 'कहां जा रही हो, अकेली ?'

वासना के क्षणों में आदमी कितना अपनापन दिखाता है, कितना-कितना लाड लड़ाता है जैसे पत्नी को छोड़ कर उसका सगा और कोई नहीं। ज्वार उतर जाने पर रह जाती है, वही सूखी रेत—वही सूखा व्यवहार और शासन की भावना।

मैंने अपने-आप कभी झगडे की शुरूआत नहीं की। शुरूआत तब होती है, जब 'ये' फिर उन्हीं सब के लिए कोई नई फरमाइश लेकर आते हैं। पहले तो मुझे बिना बताए ही ये लोग आपस में तय कर लेते थे और मैं खुशी-खुशी सब करती थी। अब मैं विरोध करने लगी हूं, इन्हें यही सबसे बड़ी शिकायत है।

मैं भी अगर शिकायत करने बैठूं तो मेरे पास भी कमी नहीं है। पर सिर्फ शिकायतों से तो जिन्दगी नहीं चलती।

यहां बच्चों की बड़ी याद आ रही है। रात में नींद भी बड़ी उचटी-सी रही।

जीजी कह रही थी, "बच्चों को क्यों नहीं लेती आई?"

बच्चों को तो मैं जान-बूझ कर नहीं लाई—इन्हें जिम्मेदारियों से बिलकुल मुक्त कैसे कर दूं।

पर मेरे सिवा कौन उनकी भूख-प्यास का ध्यान रखेगा! भूखे रहेंगे, खिसियाएंगे, लड़ेंगे और ये दो-चार थप्पड़ रसीद कर अपने कर्तव्य की इतिश्री कर देंगे।

बिट्टू और टिक्की दोनों की एक-सी आदत है, एक बार खाते से उठ जाएं फिर खाना ही नहीं खा पाते। और 'ये' बिना देखे आवाज लगाते रहते हैं, 'बिट्टू जरा दियासलाई उठा लाओ। टिक्की, एक गिलास पानी।'

बिना कुछ कहे वे दौड़ते रहते हैं। इन्हें तो सब चीजें वहीं बैठे-बैठे चाहिएं। मैं खीझती रहती हूं, कुछ कह नहीं सकती। बच्चों से कहती हूं, 'खाना खा लो पेट भर,' पर उनसे खाया नहीं जाता।

टिक्की छोटी है, कभी-कभी कह उठती है, "पापा तो पढ़ने भी नहीं देते।"

अब कौन देखता होगा मेरे बच्चों को।

बच्चों को भी तो मेरी याद आती होगी। उनके रोने पर जब 'ये' मार-मार कर चुप कराते होंगे, तब जरूर मेरे बच्चे मुझे याद करते होंगे, सोचते होंगे, 'मम्मी कैसी है हमें छोड़ कर चली गई।'

बच्चे इनकी किसी बात के बीच में बोल दें तो तड़ाक् से मारते हैं। वे चीखते हैं तो चटाचट् चांटे लगाते हैं, 'चोप्, चुपेगा या नहीं?'

और रोना बिल्कुल बन्द हो जाता है।

सो जाते होंगे दोनों ऐसे ही।

तीन दिन बीत गए, पता नहीं, एक दिन भी भरपेट खाया होगा या नहीं। बार-बार बर्तन मांजते होंगे, चाय बनाते होंगे। इन्हें क्या बच्चों की भी ममता नहीं।

और मैं भी तो छोड़ आई हूं। मां ही नहीं करेगी तो कौन करेगा

उनका। मैं तो खुद ही उन्हें उस घर में झोंक आई हूं।

घर ? किसका घर ?

घर तो मेरा ही है। 'ये' क्या करते हैं घर के लिए ? सिर्फ रुपये कमा कर लाते हैं। घर क्या उतने रुपयों से ही बन जाता है। नहीं, अपनेपन से, ममता से, प्यार से, विश्वास से बनता है। घर तो मैंने बनाया है, तिनका-तिनका चुन कर, कन-कन जोडकर। रात-रात भर अपनी नींद हराम कर बच्चो को पाला है, अपनी थकान न देख कर सब की जरूरतें देखी हैं। मुझे अपने बच्चों से प्यार है, बच्चो को भी मुझसे है।

फिर मैं क्यों चली आई ?

इन्हें भुगताने। पर भुगत तो वे निरीह बच्चे रहे होंगे।

घर मेरा था, तो ऐसा क्यों हुआ ? यह छूट मैंने ही दी। क्यों करने दी सबको मनमानी ? अपना अधिकार अपने हाथ में रखना चाहिए था मुझे। मैं क्या किसी की दया पर निर्भर हूं। नौकरी न करू तो भी घर मेरा है—मैं अपने ढग से चलाऊंगी। ठीक है, अब से यही होगा।

"कैसी शकल बना रखी है...मुझसे छोटी है तू," जीजी ने टोका था।

"टाइम नही मिलता, क्या करूं ?"

"इस सब के लिए टाइम निकाला जाता है।"

रात को सोते समय वह पानी गरम करती है।

"ले, हाथ-पाव धो और यह लगा।"

कोल्ड क्रीम की शीशी मेरे हाथ मे पकड़ा देती है, वह भी लगा रही हूँ।

तीन दिन मे मेरी शकल बदल गई है। हाथ-पांव स्निग्ध हो उठे हैं, शीशे मे चेहरा देखना अच्छा लग रहा है।

मुझे अनिमेष का ध्यान आता है। उसने कहा था, "आप हँसती हुई ज्यादा अच्छी लगती हैं।"

अब तो मैं पहले से अच्छी लगने लगी हूं, क्या कहेगा वह। मैं

अपने विचार पर स्वयं लज्जित हो उठती हूं। पैंतीस साल की हो रही हूं। अनिमेष का ध्यान मेरे मन की किसी कुण्ठा का परिणाम है—मैं स्वयं को समझा लेती हूं।

साड़ियों की मैचिंग के ब्लाउज नहीं हैं मेरे पास। एक जोड़ा सैंडिल भी खरीदना है। खरीदूंगी। अपनी कमाई पर क्या इतना भी अधिकार नहीं है? घर के खर्च का ठेका क्या सिर्फ मेरा है?

कह दूगी, 'पहले घर के खर्च पूरे करो, उसके बाद बचे तो चाहे जिसके लिए करो। हा, अगर किसी को बुलाओ तो एक नौकरानी जरूर लगा लेना, क्योंकि मैं भी पढ़ा के आती हू, थक जाती हूं।'

नौकरी करती हू दुनिया भर के लिए नहीं, अपने बच्चों के लिए, अपने घर के लिए। जो लोग अच्छे-खासे रह रहे है, उन्हें कोई अधिकार नही कि अपने खर्च मेरे ऊपर लाद दें। जीवन मे मुझे जो सुविधाएं नही मिली, उनसे मेरे बच्चे तो वंचित न रहें।

यहा तीन दिन से तटस्थ होकर सोच रही हूं। अब समझ मे आ रहा है सब। अपना ही नुकसान करती रही अब तक। अब सब कुछ अपनी मुट्ठी मे रखना है, जैसे और दस औरतें रखती है।

अब तक भीगी बिल्ली क्यों बनी रही इन लोगों के सामने, मुझे आश्चर्य हो रहा है।

वहा से दूर आकर निर्णय लेना कितना आसान हो गया है। मैं भी क्यों न ठाठ से पहनू-ओढूं। मैं क्यों न ढंग से रहूं।

लेकिन घर वापस कैसे जाऊं? 'वे' हंसेंगे, 'नहीं रहा गया न, लौट आईं...मैं तो बुलाने गया नहीं था...।'

मेरे पास भी जवाब है, 'और तुम चार बार निकल कर क्यों लौट आए थे?...तुमसे मुझे आशा ही कब थी कि बुलाने आओगे...मेरा मान रखोगे। मैं तो अपने घर आई हूं, जब तक चाहूंगी, रहूंगी, जब चाहूंगी, चली जाऊंगी।'

मुझे अच्छी तरह याद है चार बार 'ये' घर से धमकी देकर निकल चुके हैं और तीन-चार घण्टे बाद मुंह लटकाए चले आए हैं, बन्द दरवाजा खुलवाने।

अब हर बात के लिए मुझे इन पर निर्भर नहीं करना है। ठाठ से बच्चों को रखना है, जम कर मुझे रहना है।

इस बार जाकर घर के लिए एक महरी भी रखनी है—सारा काम मेरे वश का नहीं। और इन्होंने मना किया तो ! 'ये' कौन होते हैं मना करने वाले, अपनी कमाई से अपने आराम पर खर्च करने का अधिकार भी मुझे नहीं है क्या ? जब इन्हें चिन्ता नहीं तब मुझे ही देखना होगा। रोकेंगे तो मेरा उत्तर होगा, 'घर में क्या कैसे होगा, यह मुझे देखना है। तुम अपने ढंग से चाहो तो खुद अपने हाथों से कर लो।'

छह महीने हो गए पिक्चर देखे। सब साथिनें जाती हैं अपनी पसन्द की खरीददारी खुद करती हैं, मैं ही क्यों हर बात में इन पर निर्भर रहती हूं। रेणुका तो हमेशा रटती रहती है, 'चलो पिक्चर, चलो पिक्चर...।' महीने मे दो-तीन पिक्चर तो वे लोग ग्रुप बना कर देख ही आती हैं। मैं क्यों जीती हूं निरानन्द, नीरस जीवन ! इनकी तो इस सब में रुचि नहीं है। ऐसे ही रहा तो कैसे चलेगा ! मुझे जगानी होगी इनके मन की ममता। माजी, नरेश वगैरह ने तो हम लोगों में भेद डाले रखा। उन लोगों के प्रभाव के कारण ही तो 'ये' शुरू-शुरू मे हर काम में उछल-कूद मचाते हैं, फिर जब मैं नहीं मानती, तब सब धीरे-धीरे ठीक हो जाता है। ननद को छूछक देने मे यही तो हुआ था।

अरे, यह सब ठीक करना तो बाएं हाथ का खेल है। शुरू मे कुछ दिन जरूर तनाव रहेगा। वैसे 'ये' अब समझ नहीं गए होंगे कि पुत्तन यहां नहीं आएगा।

मैं कल्पना करती हूं, 'ये' कह रहे हैं, 'मैं जाकर उसके साथ कहीं अलग रह जाऊंगा।'

'और बच्चे,' मैं पूछूंगी।

'मुझे किसी से कोई मतलब नहीं।'

'ठीक है, जाओ ढूढ लो अलग मकान, बस मुझे बख्शो तुम। तुम्हारी सामर्थ्य नहीं है तो बच्चों को भी मैं रख लूंगी। अपने लोगों

को बुला लाओ आज हो । रोज-रोज धमकाते क्या हो।'

इनके खिसियाए चेहरे की कल्पना मैं करती हूं । 'ये' तमक कर उठते हैं ।

मैं फौरन टोकूंगी, 'बस, खबरदार जो मुझसे अब कुछ कहा । घर का जो-जो सामान तुम अपना समझते हो अलग कर लो और आज ही । अभी अपनी व्यवस्था कर लो...मेरी जान छोड़ो । वैसे तुम्हारी कमाई तो खाने-कपड़े में ही खर्च हो जाती थी, ऊपर के खर्च तो मेरे ही रुपयों से चलते थे ।...फिर भी तुम जो चाहो ले जाओ...मैं ट्यूशन करके खरीद लूगी...बस मुझे चैन से रहने दो ।'

और भी कहूंगी, 'तुम्हारे साथ मेरी जिन्दगी बर्बाद हो गई । अरे, जिनके आदमी छोड़ देते है, वे औरतें तो और ठाठ से रहती है...हां, जो रुपये तुमने कई बार मुझसे उधार दिलवाए हैं, उन्हे चुका देना, हिसाब मेरे पास लिखा है, क्योंकि कुछ सामान तो मुझे फौरन ही खरीदना पड़ेगा ।...तुम ले जाओ, जो चाहो—रोज-रोज सुनाते क्या हो ।'

और खाना परस कर बच्चों को लेकर बैठ जाऊंगी, 'हम लोग खाना खाने जा रहे है तुम्हारी इच्छा हो तो आ जाओ ।'

मैं बडा हल्कापन अनुभव करती हू ।

आज जीजी ने ग्राइण्डर से दाल पीस कर दही-बड़े बनाए हैं ।

मेरा कब से मन था एक ग्राइण्डर खरीदने का । ये बराबर रोकते रहे—अभी जिज्जी को सावन देना है, नरेश को जाने से पहले एक जोड़े कपड़े बनवाने पडेंगे और भी जाने क्या-क्या ।

"जीजी, एक ग्राइण्डर मुझे भी खरीदना है ।"

"हां, हा, खरीद ले । बड़ा आराम रहता है । मैंने तो पिछली बार भी तुमसे कहा था...अब दाम भी कुछ बढ गए हैं ।"

"ऊंह, दाम की चिन्ता आखिर कहां तक करूं...।"

पहली बार मैं अकेली जाकर कुछ खरीदूंगी । अपनी विजय की *उद्घोषणास्वरूप इस ग्राइण्डर के साथ घर में प्रवेश करूंगी।* मेरा मन नए आत्मविश्वास से भर उठा है ।

"भाभी, हमें भी बताओ ना !"

"अभी अम्माजी डाटेंगी, कहेंगी, 'क्या खी-खीं लगाए रखी है !"

"अम्मा तो अभी बड़ी देर तक पूजा करेंगी, सुना दो भाभी !"

गीता सोच-सोच कर मुस्कराती रही, किरन की उत्सुक आंखें उसके मुंह पर टिकी रहीं।

"बोलो ना !"

"नहीं मानती तो सुनो, पर अम्मा से मत कह देना। तब मैं बहुत छोटी थी, शायद छठी या सातवीं कक्षा में। मेरी एक सहेली थी, कान्ता, मुझसे दो-या-तीन साल बड़ी रही होगी। उसके आंगन में एक पपीते का पेड था। जब भी मैं उसके घर जाती, कच्चे पपीतों को ललचायी दृष्टि से देखा करती थी। चुराकर खाने में हमें कोई हिचक नहीं लगती थी, बल्कि लगता था, किला फतह कर लिया। इन कामों मे कान्ता मेरा पूरा साथ देती थी। उसका एक छोटा भाई था वसन्ता। वह अपनी आंखें गटे पार्चे के बबुए की तरह गोल-गोल नचाता था—मुझे बड़ा विस्मय होता था उसे देखकर।"

हाथों पर गाल टिकाए किरन सुने जा रही थी।

"एक बार मा ने कहा, 'जाओ कान्ता के घर से स्वेटर का नमूना ले आओ, उन्होंने देने को कहा था।' मैं खुशी-खुशी चल दी, उसका घर बहुत दूर नहीं था। कान्ता की मां घर पर नहीं थी। हम दोनों आंगन में खड़ी थी। मेरी दृष्टि पपीतों पर लगी थी। कान्ता को भी कच्चा पपीता नमक से खाने में बड़ा मजा आता था। पर उसकी मां डाटती रहती थी।"

"तुम लोगों ने जरूर पपीता चुराया होगा... ।"

"अब चुप तो रहो, पहले पूरी बात तो सुनो...हम दोनों ने अर्थपूर्ण दृष्टि से एक-दूसरे को देखा। कान्ता जाकर लग्गी उठा लाई। एक खूब बड़ा सा पपीता तोडा गया। वही आगन मे बैठकर हम दोनों उसे काट-काट कर नमक-मिर्च लगाकर खाने लगी। दो-दो फांकें ही खाई होंगी कि बाहर मे आवाज आई, कान्ता. . .ओ कान्ता।

"हमारा दम खुश्क हो गया। कान्ता ने फौरन एक टोकरी उठा कर पपीते पर औंधा दी, पर छिलके और बीज चारो ओर बिखरे पड़े रहे। इतने मे उसकी मां धड़धड़ाती हुई आंगन में आ पहुची। मैं एकदम वहा से भाग निकली, बाहर का खुला दरवाजा पार करते हुए मैंने जो दौड़ लगाई तो घर आकर ही दम लिया।"

उमड़ती हँसी बार-बार गीता के बोलने मे रुकावट डाल रही थी, किरन भी खिलखिला कर हँस रही थी, बोली, "फिर तुम्हारी कान्ता का क्या हुआ ?"

"मुझे नहीं मालूम, मैं तो फिर बहुत दिनो-तक उधर जाने से कतराती रही।"

"और स्वेटर का नमूना ?"

"मां से कह दिया कि कान्ता की मां घर पर नही थीं. . .।"

"बड़ी झूठी हो भाभी तुम !"

"अच्छा अब जाओ, तैयार होओ, नही तो अम्मा बिगडेंगी।"

किरन चली गई, गीता फिर अपने में डूब गई।

हर मौसम के साथ विगत जीवन के पृष्ठ जुड़े हैं। वे धाम के लान, जिनके चारों ओर अशोक के ऊंचे-ऊंचे पेड थे, हँसती खिल-खिलाती सहेलियों के झुंड, शिक्षिकाओं की नकलें, वे मौजमस्ती भरे दिन जल्दी बीत गए। रास्ते मे पड़ने वाले इमली के पेड़ पर कितने पत्थर चलाते थे हम लोग। क्लास में मुंह छिपा कर इमली खाना, दूसरे की कापी से जल्दी-जल्दी सवाल नकल करना, बहन की डांट खाना, होली का हुल्लड़, सावन के झूले—सब-कुछ पीछे छूट गया।

यह संसार कितना सुन्दर है—चहल-पहल से भरा आनन्द से

परिपूर्ण !

अचानक दाल जलने की तीखी महक आई, साथ ही सास की ऊंची आवाज भी, "कुछ जले-फुंके . . . किसी को क्यों फिकर होगी।"

वह जल्दी से चौके की ओर भागी। सास दाल का उफान उतार रही थी। 'चलो दाल नहीं जली' उसने संतोष की सास ली। पता नहीं क्यों उन बीते दिनों में घूमते-घूमते सब कुछ भूल जाती है, गीता।

शादी हुए यह तीसरा ही तो साल है—इतने मे क्या दुनिया बदल गई। बाहर तो सब कुछ वैसा ही है। उसे लगता वही बदली जा रही है। शुरू-शुरू के दिनो मे बड़ी प्रतीक्षा रहती थी, आंखे घड़ी की ओर लगी रहती थी। साढ़े पाच बजे 'ये' लौटेंगे, कमरे मे आएंगे। मैं चौके में होऊंगी तो चाव भरी नजर से देखेंगे, आने का इशारा करेंगे। या क्या ठीक कमरे में जाकर चिल्लाने ही लगें, 'मेरा पैजामा कहां रख दिया?' गीता सोचती, 'घर के बड़े लड़के है, कमाऊ पूत। इन पर क्या किसी की रोक-टोक है।' दिन के काम उत्साह से निपटाती वह शाम का इन्तजार करती रहती। समीर के आने की आहट से ही दिल की धड़कन बढ़ जाती।

पर समीर आता तो बाहर के कमरे मे चला जाता। वहीं नाश्ता-पानी पहुंच जाता, घर के सब लोग उसी कमरे मे इकट्ठे होते। वहीं गपशप होती। एक वही चौके मे बैठी रहती। अपने-आप वहां जाने की हिम्मत नहीं, ससुर भी तो वहीं बैठे होंगे। बुलाता कौन उसे ? अकेली बैठी सब्जी काटती, मसाला पीसती, आटा गूंधती, सारा उत्साह समाप्त हो जाता। फिर भी आशा बनी रहती रात को आएंगे, तब कहां जाएंगे !

पर तब भी समीर बड़ा उखड़ा-उखड़ा-सा रहता। कई बार पूछने पर एकाध बार बोलता—

"हम लोगों को बहुत चिन्ता है, किरन की शादी कैसे होगी ! अम्मा तो बड़ी नाराज है।"

"किससे ?"

"तुम्हारे पिताजी ने रुपया नहीं दिया। हम लोगों को पूरी आशा थी कि दस-पन्द्रह हजार तो नकद देंगे ही। उसी से किरन के हाथ पीले कर देते, थोड़ा बहुत हम लोग और लगा देते।"

गीता चुप रहती। समीर कहता—

"क्यों, तुम्हारे पिताजी की आमदनी तो अच्छी है, बड़ा भाई भी कमाता है अब तो . . .।"

"खर्चा भी तो है! हम दो बहनों की शादी की। एक बहन अभी क्वारी बैठी है। दोनों भाइयों की पढ़ाई भी हुई, राजन की इंजिनियरिंग की पढ़ाई का खर्चा भी कम नहीं...।"

"हूं...।"

कपड़े बदल कर समीर ने दो-तीन चक्कर कमरे के लगाए, फिर रेडियो आन कर दिया।

"भइया, बाबू बुला रहे है," छोटी ननद कंचन की आवाज आई।

समीर फिर चला गया।

गीता चुपचाप लेटी रही। रेडियो में क्या आ रहा है, कुछ समझ में नहीं आ रहा। हाथ बढ़ा कर स्विच आफ कर दिया उसने।

सास कहती हैं चिन्ता के मारे उन्हें रात-रात भर नींद नहीं आती। किरन तो ब्याह के लायक है ही कंचन भी कौन छोटी है—कैसे निबटेंगी दोनों!

बड़ी ननद तो शादी में मेहमानों के सामने कहने से भी नहीं चूकी थी, 'बाबू, तुमसे पहले ही कहा था, सब तय कर लो, नहीं माने, अब देख लिया न!'

ससुर ने गहरी सांस छोड़ी, जवाब कुछ नहीं दिया। उनका विचार था, बड़ी लड़की की शादी में पन्द्रह हजार खर्च किए हैं और अब तो लड़का भी कमा रहा है, बीस-पच्चीस हजार से क्या कम करेंगे।

गीता के पिता ने पूछा था, "आपकी मांग क्या है?"

"मांग क्या बताएं! आपके भी क्वांरी लड़कियां हैं, मेरे भी।

मुझे भी अपनी लड़कियां ब्याहनी हैं। वैसे तो लड़की वाला सामर्थ्य भर देता ही है, मैं भी बड़ी के ब्याह में पच्चीस हजार खर्च कर चुका हूं, अब आप खुद ही समझ लीजिए। मैं मुंह खोल कर क्या कहूं। हां, सामान के रूप में हमारी कोई मांग नहीं।"

पिता ने समझ लिया इनकी कोई मांग नहीं है और इनने सोचा, पच्चीस हज़ार तो कह ही दिया है इससे कम की शादी क्या करेंगे!

पिता ने घर आकर गीता की मा को बताया, "उन लोगों को बिलकुल लोभ नहीं, बड़े सज्जन आदमी हैं। खुद लड़कियों के बाप हैं, दूसरों की हालत समझते हैं।"

सबसे अधिक खुश हुई थी गीता, कितनी भाग्यशाली हूं मैं, जो ऐसा घर मिल रहा है। दो क्वांरी ननदें है, एक देवर, खूब प्यार से हिल-मिल कर रहूंगी। बड़ी बहू तो मैं ही होऊंगी। ननदों के ब्याह खूब अच्छे-अच्छे करूंगी, चाहे मेरा सारा जेवर ही चला जाए। सब कहेंगे, 'बहू हो तो ऐसी!'

पिता ने जितना कुछ हो सका, दिया था। नकद भी दिया था, पर सिर्फ सात हजार—इन लोगों की आशा से बहुत कम।

लेटे-लेटे गीता को चैन नहीं पड़ रहा। नींद जैसे आंखों से उड़ गई। समीर अभी तक नहीं आया। साढ़े दस बज चुके थे। पता नहीं क्या बातें हो रही हैं! ऊंह, मुझे क्या...मुझ पर तो सब के मुंह चढ़े रहते हैं।

बड़ी ननद ने अपनी मां से भी शिकायत की थी, "मेरी मौसिया सास की भांजी के लिए कितना कहा था उन लोगों ने...अम्मां, तुमने नहीं माना। घर भर जाता तुम्हारा। पांच हजार नकद तो टीके में आते...कहीं बाबू मुंह खोल कर मांग लेते तो और भी मिलता। किरन की शादी करके भी कंचन के लिए बचा रहता। अरे, लड़की ज़रा सांवली ही तो थी...इनने बड़ा उजाला कर दिया है न!"

"क्या करें बिटिया, किस्मत ही फूटी थी हमारी!"

छोटी ननदों को भी भर गई थीं वह । इसी की वजह से उनकी शादी नहीं हो पा रही...उन्हें अच्छे दूल्हे नहीं मिलेंगे, बाबू को नीचा देखना पड़ेगा, और भी जाने क्या-क्या ! पहले तो दोनों ने बहुत बेरुखी दिखाई थी, देवर तो बहुत छोटा है ।

समीर कमरे मे आया और अपने बिस्तर पर लेट गया । गीता की हिम्मत नही पडती कुछ भी पूछने की—कही झिडक दिया तो ! बताना होगा तो खुद ही बताएंगे ।

गीता ने उठ कर पानी पिया और लाइट आफ कर दी । कोई कुछ नही बोला । समीर को बड़ी जल्दी नीद आ जाती है, गीता आंखें खोले अन्धेरे को घूरती रही ।

सुबह का चाय-नाश्ता चल रहा था । गीता ने परांठे में घी लगा कर चमचा कटोरी मे रखा ही था कि सास पूजा के लिए चावल लेने आई । सिर का पल्ला आगे खीचने की जल्दी मे कटोरी टेढी हो गई, घी छलक गया ।

"मा ने ऐसे ही सिखाया है ?"

"वाह, क्या हथरसिया स्टाइल है," छोटे देवर की आवाज थी । ननदे खिलखिला कर हँसी ।

कभी किसी बात पर समीर ने कहा था 'हथरसिया स्टाइल' । तब से यह विशेषण उसके हर काम के साथ जोड दिया जाता है । 'इन लोगो को मेरे सब काम अजीब लगते है, गीता सोचती, 'आटा गूधना, रोटी बेलना, यहां तक कि साडी पहनने और बिन्दी लगाने तक की आलोचना होती है । बोलने के ढग की तो ये लोग हर समय नकल उतारते है । सासजी इन लोगो से कुछ नही कहती, मैं जरा-सी भी कुछ कह दूं तो फौरन टोक देती है । हर बात में नीचा दिखाने की कोशिश । पता नही, मेरे करने से ही हर काम अजीब हो जाता है । उसे लगता है इस वातावरण मे रहते-रहते वह भी असामान्य हो उठेगी ।

एक बार हँसी मे उसने 'हथरसिया' की टक्कर का शब्द तौल दिया था। किरन ने अपनी चुन्नी के किनारों पर तुरपन की थी—एक तरफ सीधी, दूसरी तरफ उल्टी। गीता ने हँस कर कहा, "यह क्या 'रायबरेलिया स्टाइल' है ?"

कंचन ताली बजा कर हँसी, "अरे वाह, भाभी ने क्या नया शब्द गढा !"

किरन का मुंह चढ गया, "हां, हम तो फूहड़ हैं !" 'अपने को जाने क्या समझती है,' से लेकर रोना-धोना तक हुआ। गीता मनाती रही, पर अम्मा से शिकायत किए बिना काम कैसे चलता।

"ननदो से बराबरी न करेंगी तो छोटी न हो जाएंगी, एक बात भी उधार नही रखेंगी वो, तमीज सिखा कर तो भेजा ही नही गया।" और अन्त मे, "जब तुम लोग जानती हो, तुम्हें फूटी आंखो नही सहन कर सकती तब क्यों बोलने जाती हो ?"

गीता का मन विद्रोह से भर उठता—जबाब मुंह तक आता, पर चुप रह जाती। परिणाम जानती है वह—शाम को बाहर वाले कमरे में सारी शिकायतें और उन पर टीका-टिप्पणी। ससुर तो बहू से बोलते नही, पर समीर डांटता-डपटता और चार-पांच दिन के लिए तनाव-भरी स्थिति।

अगर गीता कभी अपनी बात कहे तो जवाब मिलेगा, "काहे को ध्यान देती हो ? इस कान सुनो, उस कान निकाल दो।" यह "अम्मां को क्या समझाएं वह तो वैसे ही खुश नही रहतीं तुमसे, अब मैं क्या कहूं !'

"अम्मां खुश नहीं हैं, पर तुम भी तो असन्तुष्ट हो," वह कहना चाहकर भी न कह पाती।

'कोई कुछ कहता है तो मुझ पर तो असर होता है," गीता सोचती, 'कहीं कोई छुटकारा है मेरे लिए ? कहां भाग जाऊं निकल कर ? मायके जाने नहीं देंगे, बाप-भाई आएंगे तो उनका मुंह तक नही देखने देंगे, अपमानित कर बाहर का बाहर वापस कर देंगे। तीन बार भाई आए, इन लोगो ने बैठाया तक नही। खूब कहा-सुनी की और वे उल्टे

पैरों लौट गए। दो बार पिता आए, उन्हें सासजी ने खूब जली-कटी सुनाई, 'अपनी लड़की तो ब्याह ली समधीजी, अब अपना जी जुड़ाने आए हो...हमारा तो जी जल रहा है...जवान लड़की क्वांरी बैठी है, कैसे पार होगी ! जाने कैसे फंस गए तुम्हारे यहां। पन्द्रह हजार तो नकद मिल रहे थे, सामान अलग से...पर क्या कहूं किस्मत को !'

पिता सिर झुकाए खड़े रहते हैं। वह कहती जाती हैं, 'जैसा हमारे साथ किया, भगवान खूब बदला देगा। हमें तो लूट लिया। ऐसी कुलच्छनी टिका दी...घर की हंसी-खुशी छीन ली। अब अपनी बेटी देख, जी ठण्डाने आए हैं अपना। हम तुम्हें भी सुख नहीं देखने देंगे, समधीजी !''

साथ में लाए बण्डल वहीं रख, पिता लौट गए। उनके लाए सामान पर भी टीका-टिप्पणी होती रही, "ये देखो, लाए हैं मरे कंगले कहीं के...ये सूखी मिठाई ! अरे, किसी कंगले को ही ब्याह देते, हमारा लड़का ही रह गया था !"

पड़ोसिन ने कहा, "मिठाई में तो कोई खामी नहीं है जिज्जी, लाते-लाते भी हवा लग कर सूख जाती है।"

"इस मिठाई को क्या सिर पर मारूं अपने ! मेरा तो जी जलत है। मेरी लड़की का ब्याह-कैसे होगा ? ऐसी ही ममता उमड़ती है तो ले जाएं, हमेशा को रख लें अपनी बिटिया !"

'भेज क्यों नहीं देते मुझे मेरे मैके ! पर नहीं भेजते ये लोग। दिन-रात काम करने वाली—बासी बचा खाना खाकर चुपचाप पड़ी रहने वाली नौकरानी कहां मिलेगी इन्हें ! कहीं जाने नहीं देंगे...एक बार भेज दें तो मैं कभी लौट कर न आऊं !' गीता के मन में तूफान-सा उठने लगता, 'जब से आई हूं एक बार भी मायके नहीं जाने दिया।'

गीता को बहुत याद आती है उन सब की, 'दो सावन बीत गए, यह तीसरा भी यों ही निकल जाएगा। मेरी याद करते होंगे वे लोग भी, नहीं तो बार-बार क्यों आते यहां। मेरा ही मोह तो है, जो अपमानित होने के बाद भी यहां खींच लाता है।'

ताऊजी का घर याद आता है गीता को, 'रात के बारह-बारह

बजे तक हम लोग खेला करती थीं। दो बहनें थीं, एक ताऊजी की और तीन पड़ोस की—पता नहीं चलता था दिन-रात कैसे बीत जाते हैं। होली पर नई भाभी की क्या गत बनाई थी।'

कितनी जल्दी बीत गए वे दिन !

ससुरजी सुबह छह बजते-बजते मिल चले जाते हैं। उनके लिए सुबह उठ कर पराठा-सब्जी बनाना जरूरी है। बर्तन रात से ही मांज कर रख देती है गीता। कभी-कभी सुबह ऐसा बदन टूटता है कि उठने की बिलकुल इच्छा ही नहीं होती, मन करता है फिर से मुंह ढाक कर सो जाए। पर अब तो 'वे' खाना साथ लेकर जाते हैं। इसके बाद चाय-नाश्ते के कई राउण्ड चलते हैं—समीर ब्रश करके चाय पीता है, ननदों को नाश्ते के साथ चाहिए, सास को नहाने के बाद फौरन देनी होती है। समीर नौ बजे खाना खाकर निकल जाता है, स्कूल जाने वालों को दस बजे चाहिए और सास तो एक-डेढ़ से पहले पाती ही नहीं, तभी गीता का भी खाना होता है। फिर चार बजे से चाय का चक्कर शुरू।

उस दिन पडोसिन चाची मैदा की चलनी मागने आई थी। सास पूजा पर थी, सो गीता के पास खड़ी हो गई। दो-चार इधर-उधर की बातें करके बोली, "कैसी कुम्हला गई बहू, यहां तुम्हारी कोई कदर नहीं। ननदें साथ काम करवाती हैं या अकेली ही खटती हो?"

सहानुभूति के बोल सुन कर मन पिघल उठा, 'काम करना बुरा नहीं लगता चाचीजी, मुझे तो प्यार के दो बोल चाहिए।"

"सो तो कोई ढंग से नहीं बोलता, मैं तो दिन-रात सुनती हूं। बाप-भाई से भी तो मिलने नहीं दिया...।"

गीता की आंखों से आंसू टपकने लगे। इतने में किरन आ गई—रोते देख लिया। जाकर अम्मां से जड़ आई। वह पूजा छोड़ कर आ गई। उस समय तो चुप रही, पर बाद में जो कुहराम मचाया तो शाम तक बकती-झकती रहीं, शाम को पेशी हुई—बाहर के कमरे

पैरों लौट गए। दो बार पिता आए, उन्हें सासजी ने खूब जली-कटी सुनाई, 'अपनी लड़की तो ब्याह ली समधीजी, अब अपना जी जुड़ाने आए हो...हमारा तो जी जल रहा है...जवान लड़की क्वारी बैठी है, कैसे पार होगी! जाने कैसे फंस गए तुम्हारे यहां। पन्द्रह हजार तो नकद मिल रहे थे, सामान अलग से...पर क्या कहें किस्मत को!'

पिता सिर झुकाए खड़े रहते हैं। वह कहती जाती है, 'जैसा हमारे साथ किया, भगवान खूब बदला देगा। हमें तो लूट लिया। ऐसी कुलच्छनी टिका दी...घर की हंसी-खुशी छीन ली। अब अपनी बेटी देख, जी ठण्डाने आए है अपना। हम तुम्हें भी सुख नहीं देखने देंगे, समधीजी!"

साथ में लाए बण्डल वहीं रख, पिता लौट गए। उनके लाए सामान पर भी टीका-टिप्पणी होती रही, "ये देखो, लाए है मरे कंगले कहीं के...ये सूखी मिठाई! अरे, किसी कंगले को ही ब्याह देते, हमारा लड़का ही रह गया था!"

पड़ोसिन ने कहा, "मिठाई मे तो कोई खामी नहीं है जिज्जी, लाते-लाते भी हवा लग कर सूख जाती है।"

"इस मिठाई को क्या सिर पर मारूं अपने! मेरा तो जी जलत है। मेरी लड़की का ब्याह-कैसे होगा? ऐसी ही ममता उमड़ती है तो ले जाएं, हमेशा को रख लें अपनी बिटिया!"

'भेज क्यों नहीं देते मुझे मेरे मैके! पर नहीं भेजते ये लोग। दिन-रात काम करने वाली—बासी बचा खाना खाकर चुपचाप पड़ी रहने वाली नौकरानी कहां मिलेगी इन्हें! कहीं जाने नहीं देंगे...एक बार भेज दें तो मैं कभी लौट कर न आऊं!' गीता के मन में तूफान-सा उठने लगता, 'जब से आई हूं एक बार भी मायके नहीं जाने दिया।'

गीता को बहुत याद आती है उन सब की, 'दो सावन बीत गए, यह तीसरा भी यों ही निकल जाएगा। मेरी याद करते होंगे वे लोग भी, नहीं तो बार-बार क्यों आते यहां। मेरा ही मोह तो है, जो अपमानित होने के बाद भी यहां खींच लाता है।'

ताऊजी का घर याद आता है गीता को, 'रात के बारह-बारह

बजे तक हम लोग खेला करती थी। दो बहनें थी, एक ताऊजी की और तीन पड़ोस की—पता नहीं चलता था दिन-रात कैसे बीत जाते हैं। होली पर नई भाभी की क्या गत बनाई थी।'

कितनी जल्दी बीत गए वे दिन!

ससुरजी सुबह छह बजते-बजते मिल चले जाते हैं। उनके लिए सुबह उठ कर परांठा-सब्जी बनाना जरूरी है। बर्तन रात से ही मांज कर रख देती है गीता। कभी-कभी सुबह ऐसा बदन टूटता है कि उठने की बिलकुल इच्छा ही नहीं होती, मन करता है फिर से मुंह ढांक कर सो जाए। पर अब तो 'वे' खाना साथ लेकर जाते हैं। इसके बाद चाय-नाश्ते के कई राउण्ड चलते हैं—समीर ब्रश करके चाय पीता है, ननदों को नाश्ते के साथ चाहिए, सास को नहाने के बाद फौरन देनी होती है। समीर नौ बजे खाना खाकर निकल जाता है, स्कूल जाने वालों को दस बजे चाहिए और सास तो एक-डेढ़ से पहले खाती ही नहीं, तभी गीता का भी खाना होता है। फिर चार बजे से चाय का चक्कर शुरू।

उस दिन पड़ोसिन चाची मैदा की चलनी मांगने आई थी। सास पूजा पर थीं, सो गीता के पास खड़ी हो गई। दो-चार इधर-उधर की बातें करके बोली, "कैसी कुम्हला गई बहू, यहां तुम्हारी कोई कदर नहीं। ननदें साथ काम करवाती हैं या अकेली ही खटती हो?"

सहानुभूति के बोल सुन कर मन पिघल उठा, 'काम करना बुरा नहीं लगता चाचीजी, मुझे तो प्यार के दो बोल चाहिए।"

"सो तो कोई ढंग से नहीं बोलता, मैं तो दिन-रात सुनती हूं। यार-भाई से भी तो मिलने नहीं दिया...।"

गीता की आंखों से आंसू टपकने लगे। इतने में किरन आ गई—रोते देख लिया। जाकर अम्मां से जड़ आई। वह पूजा छोड़ कर आ गई। उस समय तो चुप रही, पर बाद में जो कुहराम मचाया तो शाम तक बकती-झकती रही, शाम को पेशी हुई—बाहर के कमरे

वाले न्यायालय में। आरोप लगते रहे, गीता और उसके मां-बाप को कोसा जाता रहा। धमकी भी मिली, "ऐसी बहू किसी और घर मे होती तो मार-मूर कर ठिकाने लगा दी जाती।"

सभी कुछ एकतरफा रहा, वह ससुर के सामने बोल नहीं सकती। तभी से किसी आने-जाने वाले से बोलना बन्द कर दिया गया। मायके से चिट्ठी आती है, उसे कोई नही बताता—जवाब कोई क्या देता होगा, जब आने पर ही कोई सीधे मुंह बात न करता।

शुरू-शुरू मे एकाध बार चिट्ठी लिखने बैठी तो ननद झाकने लगी, "क्या लिख रही हो, हम भी देखें जरा!"

सास ने कहा, "अपने बाप को लिख देना पच्चीस हजार से जो रकम बचाई, वो चुका दें तब आगे की सोचें...।"

अपने आप लिखें यह हिम्मत नहीं इन लोगों की।

अभी शाम की चाय की तैयारी करनी है। कौन बार-बार स्टोव का झंझट करे—मिट्टी के तेल का धुआ आंखो मे और जलन पैदा कर देता है। एक बार अंगीठी सुलगा लेती है गीता, वह आराम से नौ-दस बजे तक काम देती है। चाय के बाद उसी पर शाम के खाने का प्रबन्ध होने लगता है।

चौके में कितनी घुटन है। उठाऊ अंगीठी थी तब तक आराम था। अंगीठी भर कर दरवाजे पर रख आती थी, अपने आप सुलग जाती थी। अब तो वही चौके मे बैठ कर धोंकना होता है—बुरी तरह धुआं भरता है, आखें घण्टे भर कडवाती रहती हैं। कुछ महीनो से आंखों मे किरकिराहट रहती है, लगता है रोहे हो गए हैं। किससे कहे गीता कि मुझे डाक्टर को दिखा दो। सोच रहा था, कमरे में जाकर पसीना-सुखा लूंगी। पर वहां ननद और देवर रेडियो सुन रहे है, कंचन का मेजपोश कढ रहा है। उन लोगो के सामने पल्ला खोल कर पसीना भी नही सुखा सकती।

दिन तो दिन, गर्मी की रातें तो बिल्कुल नही कटती। उस छोटे-से कमरे में ही पड़े रहना होता है। आंगन है ही कितना बडा, फिर वहां ससुर सोते हैं। छत बिलकुल खुली है, सास को पसन्द नहीं,

'अडोस-पड़ोस में सब कहेंगे नई बहू छत पर पसरी है।'

घुर्र-घुर्र करते पंखे की हवा शीतलता के स्थान पर तपन फूकती है। परेशान होकर फुल पर करो तो भाय-भांय के मारे बैठा नही जाता और बन्द करने पर तो पसीने से बुरा हाल हो जाता है। पीठ, गर्दन कमर सब जगह अम्हौरियां ही अम्हौरियां। लगता है बदन पका जा रहा है। चौके में काम करते समय सुइया-सी चुभती रहती हैं।

पाउडर का डिब्बा कब का खाली हो गया। हफ्ते भर पहले लाने को कहा था, अभी तक नही आया। समीर ले भी आए तो फौरन सुनने का मिलेगा, "भाभी के लिए कैसा चट् से ले आए।"

"शुरू से तो लिहाज और दबाव के मारे कुछ किया नही, अब मेरे लिए कुछ करने की इनकी हिम्मत नही है," गीता को लगता, 'वैसे इनकी इच्छा भी नही होती। नही तो क्या कभी कह नही सकते—हम लोग जरा घूमने जा रहे है।

'वह क्या रोक सकती हैं इन्हें और कौन-सा पैसा खर्च होता है इसमें, पर चाव भी तो हो किसी को।'

शादी के बाद स्वप्न देखा करती थी—पूर्णिमा की चादनी से *आलोकित दिग्दिगन्त! हरसिंगार के फूल झर रहे है। गीता समीर* के साथ घूम रही है—सफेद अमेरिकन जार्जेट की रुपहले तारो वाली साडी, सफेद ब्लाउज और जूड़े में मोगरे का गजरा, जैसे तैरती चली जा रही है।

समीर कहेगा, 'यह चांदनी ऊपर से नीचे आ रही है या नीचे से ऊपर जा रही है!'

'वो देखो चांद ऊपर है!' गीता इठलाकर बोलेगी।

'साक्षात पूर्णिमा तो मेरे साथ चल रही है!'

पर रुपहले तारों वाली साड़ी की तह कभी नही खुली। हवा के एक-एक झोंके के लिए तरसना पड़ता है। ये टेरिलीन-नायलोन की साडियां तो और मारे डालती हैं, न पसीना सूखने दें, न हवा लगने दें। जरा भी पीठ या गर्दन खुल जाय तो सास के बोल सुनो, "हमें

क्या करना, तुम चाहे नंगी होकर नाचो !"

"भाभी, तुम मेरा स्कूल का सैट पूरा करवा दोगी ?"

"साथ-साथ तो मैं पूरा करवा दूंगी। अकेली मैं कैसे करूंगी, मुझे समय ही कितना मिलता है, ऊपर से आंखों में रोहे खटकते हैं।"

"तुम तो बहाना कर देती हो।"

ननदों का कहना है—औरों की भाभियां तो उनका खूब काम करा देती हैं, और वह...।

दोनों की सहेलियां आती हैं तो कहती हैं, "भाभीजी आइए न।"

वे चाहती हैं भाभी उनके साथ बैठे, बोले। उसकी हिम्मत नहीं पड़ती। सहज रूप से भी कुछ कहे और किसी को नागवार गुजरे तो उसका तो जीना मुश्किल हो जाएगा। वे घर आने का निमन्त्रण देती हैं तो न 'ना' कहते बनता है न 'हां'। इसीलिए कोई बहाना बनाकर टल जाती है वहां से। मन मचलता रहता है उनके स्कूल की बातें सुनने को, अपनी कहने को।

ऐसी ही नालायक हूं मैं तो तलाक क्यों नहीं दे देते, कर लें दूसरी शादी, मुझे किसी तरह जीने तो दें।

'ये लोग क्या चाहते हैं—मेरी मौत !'

एक बार सास भुनभुना रही थी, "मर भी तो नहीं जाती, छुट्टी हो !"

मुझे मारना क्यों चाहते हैं—गीता समझ नहीं पाती। वैसे ही निकाल दें घर से, मायके भेज दें। कह दें वह भाग गई, हम नहीं रखेंगे।

'पर कुछ होता कहां है !'

आज किरन को देखने कुछ लोग आ रहे हैं।

सुबह से दम मारने की भी फुर्सत नहीं मिली। तीसरे पहर सास ने कहा, "क्या मनहूस शक्ल बना रखी है, जरा ढंग से कपड़े-अपड़े बदल लो। चार लोग आएंगे, देखेंगे तो क्या कहेंगे !"

गीता अपने कमरे में चली गई।

'उफ, कितने बाल टूटते है ! कैसी मोटी-मोटी दो चोटियां बनती थीं, अब कितने हल्के बाल रह गए है।'

गीता को याद आया वह दूसरों की पतली-पतली चुटिया देख कर हँसा करती थी। एक बार पड़ोस की बिन्दो को देख कर उसने कहा था, "कैसा चेहरा बनाया है ! धंसी-धंसी आंखें, पीले-पीले गाल, दांत भी निकले-निकले लगते है। कैसी हो गई है बिन्दो दीदी!"

जवाब दिया था अम्मां ने, "ससुराल मे बड़ी दुखी है बेचारी। दो सौतेली लडकिया हैं, ऊपर से बुढिया सास, जीना मुश्किल कर रखा है आदमी ने। मुझे तो तरस आता है देख कर।"

आदमी अधेड़ था बिन्दो दीदी का। शक के मारे किसी से बात तक नही करने देता था। लडकिया बात-बे-बात शिकायत करती रहती थीं और वह इस पर पीटता था। उसने यह भी फैला रखा था, "मायके में किसी से आशनाई है, सो यहा रहना नही चाहती।"

फिर साल बीतते-बीतते खबर आ गई थी—खाना बनाते हुए नायलान की साडी ने आग पकड़ ली। बिन्दो दीदी जल कर मर गई।

कैसी विकृत हो गई थी उनकी वह सुन्दर, युवा देह। फफोलों से भरा अधजला मुंह नाक, आंख किसी का आकार स्पष्ट नहीं रह गया था। अम्मा देख कर आई थी और दो दिन ठीक से खाना भी नही खा पाई थी। उसका ध्यान आते ही मन जाने कैसा हो उठा।

'रोज ही अखबारों मे आता है—किसी ने मिट्टी का तेल डालकर आग लगा ली, कोई कुए में डूब मरी, किसी ने जहर खा लिया, कोई फांसी लगाकर मर गई। पता नहीं इन्ही खबरो पर मेरा ध्यान इतना क्यो जाता है, गीता सोचती, 'मैं भी क्या...नही, नही। मैं मरना नहीं चाहती। मुझे मौत से डर लगता है !' मरने की कल्पना गीता को दहला देती है—इतनी बड़ी दुनिया मे क्या मेरे लिए कही जगह नही है !

अचानक शीशे में उसे अपने चेहरे की जगह बिन्दो दीदी का अधजला चेहरा नजर आने लगता है। वह भयभीत हो उठती है, 'नही, मै नही आत्महत्या करूंगी, मुझे तो जिन्दा रहना है ! मुझे यह संसार

उनसे मांगने का अधिकार ही क्या है किसी को ?"

"उन्होने ही तो दुभांत की । तुम्हारी बडी बहन की शादी मे तो बारह हजार नकद दिए थे...।"

"तो जेवर और सोना बिल्कुल नही दिया था । उनसे पहले ही तय हो गया था । उन लोगों ने कहा था—हमारा लडका एम० एस-सी है, बारह हजार रुपए दे दो और चाहे कुछ करो, चाहे न करो। और तभी साझे का मकान बिका था, उसके बीस हजार रुपए भी मिले थे...।"

"साझे के मकान में बडी का हिस्सा था, मझली का नही ? जीजा जी तुम्हारे एम० एस-सी० है, तो मैं नालायक हू ? मैं बी० एस-सी० हूं, तो फिर काहे को आए थे नाक रगडने...हा, मैं तो गंवार हूं, नकारा हूं ।"

"मैं यह कब कह रही हू !"

"और क्या कह रही हो, मैं जब से सुन रहा हूं, जबान तो ऐसी चलती है कि काटकर फेंक दे...।"

समीर की ऊंची आवाज सुनकर जाने कब सास और ननदें दरवाजे पर आकर खड़ी हो गई थी ।

सास कहे जा रही थी, "हमारा लडका नालायक है ! मरी जाने कहां की तोहमत हमारे सिर डाल दी। कीड़े पड़ेंगे मुसरों के...।"

"ऐसे मत कहो..." गीता चीख उठी।

"चीख रही है लोगो को सुनाने के लिए कि हम मार रहे है ! हां, हा, मैं तो कहूंगी क्या कर लेगी तू मेरा ? कोढ़ फूटेगा उनके, गल-गल कर मरेंगे अभागे...।"

गीता सब कुछ भूल गई । मुंह से अपने-आप निकलने लगा, "मुझे मार लो, मेरे मा-बाप को मत कहो । तुम भी तो मा-बाप हो, तुम्हें कोई कहे तो...।"

"हमें ऐसे कहेगी, सुसरी ! सूअर की औलाद !"

समीर ताव खाकर आगे बढा ।

दोनों एक-साथ चिल्ला रहे हैं, "यह तो हाथ चलाने पर उतारू

अच्छा लगता है—बहुत सुन्दर, रमणीय !'

खूब संवार-सवार कर जूड़ा बनाया गीता ने। क्रीम, पाउडर, बिन्दी शादी में सब मिला था। शृंगार का मौका ही कितनी बार मिला ! मन लगाकर शृंगार किया उसने। किरन को भी बुला कर तैयार किया।

किरन खूब अच्छी लग रही है। गीता ने अपनी हरे बार्डर वाली बनारसी साड़ी पहनाई है, माथे पर छोटी-सी बिन्दी, कानों में झाले। सास सराहना से देख रही है। आगन्तुकों की आखों में किरन के लिए प्रशंसा स्पष्ट दिखाई दे रही है।

सबको लगा अब स्वीकृति मिलने में देर नहीं है। पर बाद में सब गुड़-गोबर हो गया। लड़के के बाप ने कहा, "यों तो और भी अच्छे-अच्छे रिश्ते आए थे, पर हमें आपकी लड़की पसन्द है। वैसे एक बात बता दूं, एक और रिश्ता आया है और वे लोग पन्द्रह हजार देने को तैयार हैं—अब आप जैसा कहें !"

'पन्द्रह हजार नकद, माने पचीस हजार की शादी। इतना कहां है हमारे पास !"

बात वहीं खत्म हो गई। किरन का दमकता चेहरा बुझ गया, गीता उदास हो गई। घर में फिर मनहूसियत छा गई।

उस रात समीर ने कहा था, "तुम्हारे पिताजी किसी तरह पांच हजार का इन्तजाम कर दें तो सब ठीक हो जाए। सात हजार पहले वाले, सात-आठ हजार हम लोग और कर लेंगे, पांच हजार और होते तो..."

मायके की हालत जानती है गीता—'पिताजी अब तक इस शादी का उधार चुका नहीं पाए होंगे, फिर छोटी बहन भी तो है।'

'मुझे तलाक दे दो, मैं कुछ नहीं कहूंगी। दूसरी शादी कर लो, वहां से मिल जाएगा।"

"कैसी बेवकूफ हो तुम ! अपने बाप से मांगना इतना बुरा लगता है ?"

"जब मैं जानती हूं वह नहीं दे पाएंगे तब मैं क्यों कहूं ? और

उनसे मांगने का अधिकार ही क्या है किसी को ?"

"उन्होंने ही तो दुभात की। तुम्हारी बड़ी बहन की शादी में तो बारह हजार नकद दिए थे...।"

"तो जेवर और सोना बिल्कुल नही दिया था। उनसे पहले ही तय हो गया था। उन लोगों ने कहा था—हमारा लड़का एम० एस-सी है, बारह हजार रुपए दे दो और चाहे कुछ करो, चाहे न करो। और तभी साझे का मकान बिका था, उसके बीस हजार रुपए भी मिले थे...।"

"साझे के मकान में बड़ी का हिस्सा था, मंझली का नहीं ? जीजा जी तुम्हारे एम० एस-सी० हैं, तो मैं नालायक हू ? मैं बी० एस-सी० हू, तो फिर काहे को आए थे नाक रगडने...हां, मैं तो गंवार हूं, नकारा हू।"

"मैं यह कब कह रही हू !"

"और क्या कह रही हो, मैं जब से सुन रहा हूं, जबान तो ऐसी चलती है कि काटकर फेंक दे...।"

समीर की ऊंची आवाज सुनकर जाने कब सास और ननदें दरवाजे पर आकर खड़ी हो गई थीं।

सास कहे जा रही थी, "हमारा लडका नालायक है ! मरी जाने कहां की तोहमत हमारे सिर डाल दी। कीड़े पड़ेंगे मुसरों के...।"

"ऐसे मत कहो..." गीता चीख उठी।

"चीख रही है लोगों को सुनाने के लिए कि हम मार रहे है ! हां, हां, मैं तो कहूंगी क्या कर लेगी तू मेरा ? कोढ फूटेगा उनके, गल-गल कर मरेंगे अभागे...।"

गीता सब कुछ भूल गई। मुंह से अपने-आप निकलने लगा, "मुझे मार लो, मेरे मा-बाप को मत कहो। तुम भी तो मां-बाप हो, तुम्हें कोई कहे तो...।"

"हमें ऐसे कहेगी, सुसरी ! सूअर की औलाद।"

समीर ताव खाकर आगे बढा।

दोनों एक-साथ चिल्ला रहे हैं, "यह तो हाथ चलाने पर उतारू

हैं !" गीता का दिमाग गर्म हो उठा, "वो खड़ी-खड़ी उकसा रही हैं बेटे को अपने !"

बहुत दिनों से बंधा हुआ बाध टूट पड़ा। गीता जवाब दे रही है, "मैं सूअर की औलाद हूं और तुम ? तुम तो उस सूअर से भी गए-गुजरे हो, जिसकी जूठन के बिना अपनी औलाद को नहीं ब्याह सकते !"

एक झन्नादेदार थप्पड़ ! गीता का सन्तुलन बिगड गया, सिर घूम गया, वह गिर पड़ी। सिर से कुछ टकराया...ऊंची-ऊंची, मिली-जुली आवाजें वातावरण में तैरती रहीं। फिर गीता बोली नहीं, निश्चेष्ट पड़ी रही। "बेहोश हो गई क्या ?"

किरन आगे बढ़ी।

"सुसरी मक्कर साधे पड़ी है, चल किरन इधर..."

सब लोग कमरे से चले गए हैं।

"हमारी तरफ एक वैद्यजी दौरों की एक बड़ी अच्छी दवा देते हैं, जिज्जी!"

पड़ोसिन बोलते-बोलते आगन में आ गई है—

"बहू को दिखा दो, हफ्ते भर में चंगी हो जाएगी...।"

गीता दाल धोने जा रही थी।

"क्यों बहू, तुम्हें कब से दौरे पड़ते हैं, मायके से ?"

"मुझे ? मुझे तो कभी दौरे नहीं पड़ते !"

विस्मित-सी गीता ने सास की तरफ देखा। उन्होंने कुछ जवाब नहीं दिया, मुंह फेर कर कमरे से चली गईं।

"अरे, कल रात तो दौरा पड़ा था। चीख की आवाज सुन के हमने झाका तो देखा तुम गिरी पड़ी थी। सिर में पलग के पाए से क्या चोट लगी है ?" वह माथे के गूमड की ओर इशारा करती है, "ये लोग वहीं इकट्ठे थे। तब जिज्जी ने बताया—बहू को दौरा पड़ा है।"

"मुझे नहीं मालूम !"

गीता दाल लेकर चौके में चली गई।

पडोसिन सन्देह भरी दृष्टि से देखती रही ।

पट्टा बिछाकर गीता धप्प से बैठ गई—घूमते हुए सिर को दोनो हाथों मे पकड लिया । भूल गई चौके मे क्या करने आयी थी...जलती हुई अंगीठी को लगातार घूरे जा रही है।

दरवाजे पर कोई आया, गीता को किमी का ध्यान नही ।

'भाभी..."

उत्तर देने की सुध किसे है।

"भाभी तुम्हें क्या हो गया है ? तुम जाओ मैं दाल चढ़ा दूंगी," किरन की आवाज है ।

' मुझे कुछ नही होगा । मैं मरूगी नही, तुम लोग चाहे जो करो।"

किरन बहुत उदास है । *अनुनयपूर्ण दृष्टि से गीता की ओर की* देख रही है ।

"मेरी वजह से यह सब हो रहा है। मैं मर जाऊं तो छुट्टी हो !" किरन की आंखो मे आसू हैं ।

गीता ध्यान से उसे देख रही है । किरन का सारा दर्प समाप्त हो गया है । गीता को वह बड़ी अपनी-सी लगी।

किरन गीता को जबर्दस्ती उसके कमरे में छोड आई। वह सोचती रही, "वह पड़ोसिन चाची मुझसे यह सब कहने क्यों आईं ? शादी मे भी इन्हीं ने उकसा-उकसा कर खूब मजा लिया था । हँस कर बोली थीं, "काहे जिज्जी, वो सन्दूक कहां है, जिसमें रुपैय्या भरा है ? हमारा हिस्सा निकालो !"

जल-भुन कर सास बोली थीं, "हां, हा, खूब आया है, हमने गाड-गाड़ के रखा है।...सब छाती पे रख के ले जाएंगे, सुसरे ! कुछ भी तो नही दिया मरों ने ! बातें तो खूब बड़ी-वड़ी करते थे। पूछते थे—क्या माग है आपकी ? माग सुन ली तभी साफ कह देते ।...ऐसा धोखा खाया है हमने...!"

सास बकती-झकती रही थीं । बड़ी ननद और पड़ोसिन आग में घी डालती रही। गीता चुपचाप रोती रही थी ।

किरन ने तो अपने लिए कहा था, "मर जाऊं तो छुट्टी हो।" पर

गीता को लग रहा था, 'यह कोई जिन्दगी है ! ससुराल ऐसी होती है ! मैंने कभी सोचा भी न था ! मां तो बात-बात पर कहती थी—और थोड़े दिन सबर करो, ब्याह हो जाए तो सारे शौक पूरे करना !"

तब ससुराल शब्द मन मे शक्कर-सी घोल देता था। जाने क्या-क्या आकर जुड जाता था इस एक शब्द के साथ !

देखा भी तो था उसने ऐसा ही—सजी-सजाई दूसरे की छेड़ना, खिलखिलाना, पति के नाम से बहुएं, भेदभरी हँसी से प्रकाशित चेहरे—एक पुलक उठना और एकाध वर्ष बाद मातृत्व की गरिमा से मण्डित हो पूर्णता पा लेना।

बड़े भाई का ब्याह नहीं हुआ था तो क्या, ताऊजी के घर महीनों रही थी वह। टिल्लू दादा की शादी की अच्छी तरह याद है।

नई बहू को ऊपर के कमरे मे ठहराया गया था। लड़कियां उसे बराबर घेरे रहती थी। छोटी बुआ ने कई बार टोका—रात भर की जगी है, सुबह से भी सफर के बाद बैठी-की-बैठी है, थोड़ी देर उसे आराम करने दो। तुम लोग दरवाजा उड़का के चली आओ।

'बड़े बेमन से वे लोग नीचे आई थीं। पर कहां चैन पडता, घण्टे भर बाद से ही फिर चक्कर लगने लगे। उन बहनों ने तय किया कि टिल्लू दादा की भाभी से पहचान कराए। दादा सोकर उठे थे। बहुत कहने-सुनने पर किसी तरह ऊपर गए।

'विनी ने जाकर उड़का दरवाजा पूरा-का-पूरा खोल दिया, एक पूरा दृश्य सामने आ गया—

'फर्श की दरी' पर अपनी बांह का तकिया लगाए नई दुल्हन निश्चिन्त सोई थी। मुदी हुई पलकें, माथे का पल्ला खिसका हुआ, खूब भरी सिन्दूर से दमकती माग के दोनों ओर कुछ लटें माथे पर बिखरी हुई, जरा टेढ़ी हो आई बिन्दी, कान का झाला गालों पर झिलमिलाता हुआ, गोरे-गोरे मेंहदी रचे चुड़िया-कंगन से भरे हाथ—और महावर लगे पायल-बिच्छुओं से सजे टखनों तक खुले एक-दूसरे पर रखे सुन्दर पांव।

'अभिभूत से सभी कुछ क्षण खड़े रह गए।

'विनी आगे बढ़ी—अभी जगाती हूं !'

'दादा ने हाथ बढ़ाकर रोक लिया—नही-नही, मत जगाओ, सोने दो उसे। और लौट कर सीढ़ियां उतर गए।

'चाय के समय गीता ने कहा—भाभी, टिल्लू दादा आपसे मिलने आए थे !'

'अच्छा कब ?—वह विस्मय से बोली—मुझे पता ही नहीं लगा।''

'आप तो वेखबर सो रही थीं !'

'मायके मे चार-पाच दिनों से बिलकुल नीद नही आयी थी, भीतर-ही-भीतर जाने कैसी घबराहट-सी लगती रहती थी। यहां आप लोगो को पाकर लगा जैसे बड़ा पुराना सम्बन्ध हो, फिर तो ऐसी गहरी नीद आई कि बस ! टिल्लू दादा का मुझे पता ही न चला...पर आपने जगा क्यों नहीं दिया,' वह बड़े भोलेपन से बोली।

'हम लोग मुस्कराईं—वह कहने लगे—मत जगाओ, थकी है सोने दो।

'दूसरे दिन हम लोगों ने शैतानी से पूछा था—फिर टिल्लू दादा मिले ?

'भाभी झेप गई, बोली—आप लोग सोचती होंगी यह कैसी बेशरम है। सच बीबीजी, मुझे पता ही नही था कि किसका घर का क्या नाम है। तभी तो...!

हम समझ गई थीं, तभी तो किसी ने कहा नही।

'ऐसी प्यारी ननदें भगवान सब को दे। और कही कोई होती तो सारे घर में पूर आतीं, हल्ला मच जाता—बहू कितनी वेहया है...मैं तो पांव धो-धो कर पियूं।

'नई भाभी उन्हें अपनी प्यारी सहेलियां-सी लगी थी। थी भी बराबरी की ही। बहुत होगा तो दो-एक साल बड़ी होंगी। साथ काम करना, साथ रहना, खूब मजा आता था। ताईजी का मिजाज जरा तेज था, पर हम लोग भाभी को बराबर बचा ले जाती।

'जाने कितनी बार भाभी की अनभ्यस्त अंगुलियों से गिरे बिछुए उन्हें चुपके से ले जाकर दिए थे। विस्तर पर छूटी हुई इनकी दोनो

पायल दादा बहनों को पकड़ा जाते यथास्थान पहुंचाने के लिए। बाद में तो ताईजी हर बात में कहने लगी थी—अब तुम ननद-भौजाई जानो, मुझे क्या ?

मोगरे का गजरा भाभी को पसन्द है। दादा से फरमाइश की जाती। वह सब के लिए लाते। चांदनी रातों में वेणी में गजरे बांधते, छत पर महफिल जमती और आधी-आधी रात तक गाने होते।

'ताई टोकती—नई बहू को छत पर देखकर लोग क्या कहते होंगे ?

'उन्ही की लड़की जवाब देती—जैसे सारी दुनिया तुम्हारी बहू को ही देखती रहती है। अरे इत्ती-मारी हम लोगों में, क्या पता नई बहू कौन-सी है।

'और भाभी को सिर खोल कर बिठाया जाता—खुली हवा इन्हे भी तो चाहिए, अभी कल तक मायके में सिर खोले घूमती होंगी।

'तुम आराम से बैठो भाभी, कोई बड़ा आएगा तो हम बता देंगी, तुम घूघट कर लेना—उन्हें आश्वस्त कर दिया जाता।

'जाने कितनी बातें, जो अम्मां से नही कहीं, मन से भाभी को चनाई है।

ससुराल की यही कल्पना गीता ने संजोई थी। पर यहां सबने अकेला छोड़ दिया है, कोई अपना नही, लगता है सब विरोधी है। 'ये' भी तो कुछ मीठी स्मृतियों की सौगात नही दे पाए, जो दोनों के हृदय को जोड़ पाती। गीता को लगता कैसे इन्हें अपना कहूं ?

मुझे कुछ नहीं चाहिए, बस इनका प्यार और सबका सहज व्यवहार। इसमे किसी का कुछ खर्च नही होगा और मेरा मन सुख-शांति से भर जाएगा, किसी से कोई शिकायत न रहेगी, गीता सोचती।

'ये चांद से सजी रातें मुझे अच्छी लगती हैं। पूरे आसमान की चादनी मेरी न सही, खिड़की से कभी-कभी झाकने वाली थोड़ी-सी किरणों से ही सन्तोप कर लूंगी। मायके-जैसा ये नीम का पेड़ मुझे सावन का सन्देश दे देगा और कोयल की कूक सुनकर मैं समझ लूंगी बसन्त आ गया है। पतझर के सूखे पत्ते तो खिड़की से आ-आकर कमरे

में बिखर जाते हैं।

पर इन सबके लिए जो मनःस्थिति चाहिए, वह उसे नही मिलती। हँसी-खुशी भरे कुछ प्रहर उस झोली मे डाल दो तो जीवन की कटुताओं पर शीतल प्रलेप हो जाए। कभी-कभी मन ऐसी कड़वाहट-से भर जाता है कि जीवन असह्य लगने लगता, फिर भी उसकी मरने की इच्छा नही होती। यह संसार अच्छा लगता है। जीवन के आनन्द भोगने की चाह है। दुख, दुविधा और आतंक से रहित स्वाभाविक जीवन जीने की कामना बार-बार उसके मन मे जाग उठती है।

बालों की बिखरी लटें समेटते हुए हाथ जोर मे छरछरा उठा—कल कद्दूकस में छिल गया था। जरा-सा नमक-मसाला छू जाए तो बहुत लगता है। किसी से कुछ कहा नही गीता ने, नही तो कुछ सुनने को मिल जाता।

समीर की शर्ट मे बटन टांकते सुई उसी छिले पर जा लगी मुह से 'सी' निकल गया।

"क्या हुआ?"

"कुछ नही, कद्दूकस से हाथ कस गया था।"

"देखें," समीर ने हाथ पकड़ा, कुछ लगा नही लिया?"

गीता कुछ क्षण समीर के चेहरे की ओर देखती रही, फिर अचानक पूछ बैठी, "तुम मुझे मेरे मायके भेज सकते हो?'

"मैं कुछ नही कर सकता।"

"मुझे कुछ हो जाए तो जिम्मेदारी तुम्हारी है न!"

"मेरी क्यो? और बडे लोग है घर मे...मैं कैसे हर बात का जिम्मा ले सकता हूं? तुम भी सब देखती हो, फिर भी कैसी अजीब बातें करती हो!"

'इनका व्यक्तित्व भी कितना दबा हुआ है, अपने मन से कुछ नही कर पाते। दूसरे क्या कहेंगे यही सोचकर उचित का समर्थन भी नही कर पाते। और मैं कितना भी कुछ भी करूं किसी की नजरों मे उसकी कोई कीमत नहीं, गीता ने ठण्डी सांस ली।

'शरीर क्लान्त और मन सन्तप्त होता है तो बोलने की इच्छा नही

होती। मन करता है खूब खरी-खोटी सुनाऊं और जी की जलन कुछ शान्त करूं। गीता को लगता इस सबके लिए उत्तरदायी समीर है। मेरा ब्याह तो इनसे हुआ है। बाहर से आकर जरा-सी देर को मेरे पास हो जाएं, फिर चाहे फौरन ही चले जाएं। जरा-सा महत्व मुझे दे दें तो इन छोटी-छोटी बातों का घर वालों के व्यवहार पर बहुत असर पड़े। पर 'ये' तो खुद ही असन्तुष्ट है। इनकी दृष्टि को देखकर ही तो घर वालों का मेरे प्रति व्यवहार निर्धारित होता है,' गीता अपने अनुभव किसी पर व्यक्त नहीं करती। सुनेगा-समझेगा कौन?

कभी-कभी अचानक उसे लगता चारों ओर हरियाली और प्रकाश से भरा संसार नहीं, सुनसान, धूसर, असीमित रेगिस्तान फैला हुआ है। मन करता भाग जाए यहां से निकल कर। पर कहां? दुनिया के सारे दरवाजे तो बन्द हो गए हैं।

'ये ची-ची की आवाज कहां से आ रही है, गीता कमरे से बाहर निकली, देखा चिड़िया का एक बच्चा नीचे पड़ा है।

बरामदे के ऊपर वाले रोशनदानों में चिड़ियों ने अपने घोंसले बना लिए हैं। अब तो उनमें नन्हें-नन्हे बच्चे भी दिखाई देते हैं। चिड़िया चोंच में कुछ दबा कर लाती है तो पूरी-की-पूरी चोंच खोल कर आगे बढ़ आते हैं। फिर उनकी आवाजें जैसे छोटी-छोटी घण्टियां लगातार टुनटुना रही हों। उन्हीं में से एक बच्चा नीचे आ पड़ा है।

उसने पास जाकर देखा—अभी तो पंख भी नहीं जमे। गुलाबी-गुलाबी, मुलायम-सी नन्ही देह सहमी-सिकुड़ी बैठी है। ऊपर मुंडेर पर बैठी चिड़ियां चिचिया रही हैं।

'पता नहीं कब से पड़ा होगा, वह चम्मच में पानी ले आई—शायद पी ले।

पुचकार की आवाज सुन कंचन बाहर निकल आई।

"भाभी, यह चिड़िया का बच्चा कहां से ले आईं?"

पानी उसकी चोंच से लगाते हुए वह बोली, "ऊपर घोंसले से *गिर पड़ा है।"*

पकड़ने के लिए बढ़ाया हुआ कंचन का हाथ हटाते हुए गीता वह

उठी, "ना, ना, छूना मत। फिर चिड़ियाँ उसे लेंगी नहीं !"

"चिड़ियाँ तो उठा भी नहीं पाएंगी उसे। यहां कहीं बिल्ली खा गई तो..।"

प्लास्टिक की जालीदार टोकरी लाकर बच्चों को ढाक दिया गया और डबल रोटी का चूरा और पानी भीतर खिसका कर रख दिया।

गीता जानती है, बच्चा बचेगा नहीं।

उसके भीतर कहीं कुछ चटख कर टूट गया।

आजकल तबियत बहुत गिरी-गिरी-सी रहने लगी है। दाल की महक सहन नहीं होती, देख कर उबकाई आती है। गीता को लगा फिर कुछ दिन चढ गए हैं।

समीर को पता चलने पर बोला, "डाक्टर के पास चलना, इन्त-जाम हो जाएगा।"

वह कांप उठी। एक बार भुगत चुकी है। तब शादी को पांच महीने ही हुए थे। उन दिनों ममिया सास आई हुई थी। गीता की तबियत ठीक नहीं रहती थी। सुबह-सुबह मितली आती और कुछ खाते ही उलट जाता।

सास अपनी भौजाई से बोली थी, "क्या जमाना आ गया है, साल पूरा होने से पहले ही बच्चा हो जाएगा। इन लोगों को तो कुछ शरम नहीं, मुझे तो मोहल्ले में जवाब देना मुश्किल हो जाएगा।"

"क्या करें बीवी, कुछ अपना वस तो है नहीं। दोनों की उमर है! तुम रोक लोगी क्या?"

"एक झंझट से छुट्टी नहीं मिली, यह दूसरा सिर पे आ गया। कोई पूछे इनसे···आगे क्या होगा !"

गीता वहीं बैठी थी, उठकर अपने कमरे में चली गई।

तीसरे पहर मामीजी आकर उसके पास बैठीं और सहानुभूति दिखाते हुए अपनी सलाह दे गईं। और गीता समीर के साथ डाक्टर के पास हो आई।

परिणाम कई महीने भुगतना पड़ा था। शरीर और मन दोनों अवसन्न-से हो गए थे। कमजोरी इतनी लगती कि उठकर खड़ा होने की हिम्मत नहीं पड़ती। डाक्टर ने कुछ इंजेक्शन भी बताए थे, पर इसका ध्यान ही किसे था—खान-पान की बात बहुत दूर की थी। ऊपर से पांचवें दिन से ही रोजमर्रा के काम शुरू। बैठकर पोछा देने और आटा गूंधने मे तो जैसे जान ही निकल जाती, लगता कोई नाखूनों से भीतर-ही-भीतर खरौंचे डाल रहा है। जरा झटका लगते ही लगता, पेट की सारी नसें खिंच कर टूट जाएंगी। बार-बार गला सूखता, बार-बार प्यास लगती और जल्दी-जल्दी बाथ-रूम जाना पड़ता। एक-एक कदम ऐसा लगता, जैसे पहाड़ लांघ रही हो।

दोनों ननदें स्कूल चली जाती, सास नहा कर पूजा पर बैठ जाती, काम और कौन करता! गीता के दिमाग में यह सब एक साथ घूम गया।

"शाम को तैयार रहना," समीर ने फिर कहा।

"मैं अब डाक्टर के पास नही जाऊंगी!"

"तुम समझती क्यों नहीं, अभी सबसे बड़ा काम किरन की शादी है।"

"ऐसा ही था तो शादी क्यो की थी, तुमने?"

"हम लोग अभी इस लायक हैं क्या? घर के खर्च और बढ़ जाएंगे। मैं कुछ नही कर पाऊंगा तो सब लोग क्या कहेंगे?"

गीता बार-बार सपने देखती है—एक हँसता-किलकता बच्चा उसके पास लेटा है, हाथ-पांव फेंक रहा है। कभी देखती—आंचल पकड़ कर खींच रहा है, कभी गोद मे आने को लपकता—रोता है। जरा झपकी लगती, यही सब दिखाई देता। 'वह मेरी गोद मे आने को मचल रहा है और यह डाक्टर के पास ले जा रहे है।'

पिछली बार नर्स ने कहा था, "शुरू-शुरू मे ये सब नही कराना चाहिए, नही तो बाद में भी हर बार गड़बड़ हो जाता है।"

'वह तो मेरा होगा, मेरा अपना। रोएगा तो मेरे लिए, चाहेगा तो मुझे। उसे गोद में लेकर मैं सारी दुनिया से लड़ लूंगी। यह सूखा रेगिस्तान फिर सरस-सुन्दर हो उठेगा। थपकी देकर सुलाऊंगी, लोरी गाऊंगी, आंचल से ढंककर दूध पिलाऊंगी, जैसे मंजू भाभी पिलाती हैं।

आखिरी बार टिल्लू दादा और मंजू भाभी को अपने ब्याह में देखा था उसने। भाभी का अधिकतर समय उसके सामान की साज-सम्हाल में उसके पास ही बीतता था। इस बार उनकी गोद में गुद-गुदा गोरा सुन्दर-सा बच्चा था—बड़ा प्यारा।

'उस दिन भाभी जयमाल की साड़ी में किरन टांक रही थीं, इतने में दादा आए—'मजू, मुन्ना कहा है ?'

दूध पीना छोड़कर मुन्ना भाभी की गोद से दादा की ओर लपका। भाभी के हाथ की सुई उन्हीं की उंगली मे जा चुभी।

'देखो अपने बेटे की करतूत', भाभी ने उलाहना दिया।

दादा ने मुन्ने को उठा लिया, भीगे होंठ अपने हाथों से पोंछते ही बोले, 'उसे लेकर ऐसा काम तुम्हें करना ही नहीं चाहिए।'

भाभी की मानभरी और दादा की नेहभरी दृष्टियां मिलीं—दादा मुन्ने को लेकर बाहर चले गए।

'सुख-सौभाग्य के ये सुन्दर क्षण मेरे जीवन मे भी कभी आएंगे !'

बार-बार समीर डाक्टर के पास जाने की याद दिलाता, कहता, "अब की बार पूरी सम्हाल होगी, अम्मा से मैं खुद कहूंगा और सब करवाऊंगा।"

'अम्मां से कह देंगे, इतने बड़े होकर क्या 'अम्मां-अम्मा' लगाए

रहते हैं। ऐसे ही बोलने की हिम्मत पड़ती तो बार-बार एबार्शन की नौबत नही आती',—गीता झुझला उठी है । वह जानती है, 'यह सब झूठ है, बहकावा है—कोई कुछ नही करेगा । मेरे गर्भ के जिस बच्चे से 'ये' मुझे वंचित कर रहे है, उसे फिर कभी लाकर मुझे लौटा पायेंगे 'ये' । अब मुझे बिलकुल साफ कह देना है—एबार्शन नही करवाऊंगी ।'

'वह सोचती, इन्हे काहे की कीमत चाहिए, मेरी जिन्दगी की या बच्चे की ? अगर इस लायक नही थे तो शादी क्या सिर्फ दहेज के लिए की थी ? ये सब अगर कहूं तो क्या 'ये' मुझे मारेंगे नही ? क्या मारा नहीं है कभी !'

मैं कहूंगी, 'मारोगे तुम ? मारो और क्या कर सकते हो ? मेरा यहां है ही कौन, जो बचाएगा, सब तुम्हारा ही साथ देंगे...पिछली बार फैला दिया था—दौरे पडते है, अब की बार सब मिल के जला देना, कह देना—नायलान की साड़ी ने आग पकड ली, दूसरी शादी से तुम्हें बहुत दहेज मिल जाएगा ।'

बाहर से बोलचाल की आवाज आ रही है—"आज रमाकान्त मिले थे..."

बड़े भाई का नाम सुन कर गीता चौकन्नी हो गई । सास ने पूछा, "कहा ?"

"हमारे रास्ते में', समीर ने कहा, "मुझे लगा जैसे मिलने के लिए खड़े इन्तजार ही कर रहे थे।"

"इतनी बार दुत्कार चुके, फिर भी मरो की हिम्मत पड जाती है !"

"कह रहे थे मा काफी बीमार है । गीता को बहुत याद करती है...न हो कहो बाजार में ही एक बार दिखा दो । बहुत जिद करती है वो !"

"हां, हा, छोड़ आओ न ! दूध टपक रहा होगा उनकी अम्मा का ! ऐसा ही प्यार था तो रखे रहती घर में, हम तो पाव पकडने गए नही थे ?...तुमने क्या कह दिया ?"

'मैंने कह दिया, जब अम्मा-बाबू ने कह दिया तब आप लोग बेकार परेशान होते हैं। हम कुछ दुख तो नही दे रहे हैं, आपकी बहन को। और अब तो जिम्मेदारी हम लोगो की है।"

"और क्या ? सोचते होंगे दामाद को अपनी तरफ फोड़ लें। पर हमारे यहा के लडके अभी तक तो ऐसे नही कि खुदमुख्तार बन बैठें... आगे की भाई कुछ कही नहीं जा सकती !"

गीता सुनती रही। उसे लगता रहा, 'मां बीमार हैं—वह तो वैसे ही कमजोर थी, मेरी चिन्ता उन्हें चैन नही लेने देती होगी।'

मन के भीतर बार-बार कुछ कचोटने लगता है, 'भइया रास्ते में इन्तजार करते मिले थे...निराश लौट गए। मां क्यों चिन्ता करती हैं मेरी ! छोड़ दें मुझे मेरे हाल पर ! जब ब्याह दिया तब समझ ले उनके लिए मैं मर गई।'

आंखों में आए आंसू उसने पोंछ लिए। रोने से तो आंखें और खराब होगी। वैसे ही काटे-से चुभते रहते हैं। जरा-सी रोए तो घुधलाने-सी लगती हैं—सिर बिल्कुल खाली-खाली लगने लगता है। कभी-कभी तो उठते-उठते भूल जाती किस काम से उठ रही थी। अजीब-सी मनःस्थिति हो जाती है। सिर चकराता-सा रहता है। आज भी लग रहा है जैसे अन्दर से धमक रहा है।

चौके में बैठ कर काम करना मुश्किल लग रहा है। किरन चाय पीती हुई आई है। इधर किरन का व्यवहार बहुत ठीक हो गया है। पर शुरू से एक ढर्रा बन चुका है। दोनो में अधिक बातचीत नही हो पाती। गीता ने किरन को इशारे से बुलाया।

"मेरी तबियत बड़ी अजीब हो रही है, तुम जरा यह सब्जी देख लेना, मैं थोड़ी देर मे फिर आ जाऊंगी।"

"अच्छा, मैं खाना बना लूं ?"

"नही। अम्मां से कुछ मत कहना। पूछें तो मुझे आवाज दे लेना।"

किरन की मदद मे किसी तरह काम खत्म होता है। गीता कमरे मे जाकर गहरी नीद सो जाना चाहती है।

पर वहां फुलवाल्युम पर रेडियो खुला है।

'ये आवाजें...लगता है सिर में लगातार हथौड़े से चोट कर रही हैं। मन करता है रेडियो बन्द कर सबसे कह दे—बाहर निकल जाओ, मुझे चुपचाप सोने दो।'

"तुम्हारे भैया मिले थे आज !"

समीर के शब्द गीता के कानों गड्डमड्ड होकर पड़ रहे हैं। वह सब कुछ सुन चुकी है, अब कुछ सुनना बाकी नहीं है। अब तो लड़ने की भी हिम्मत नहीं बची है उसमें। वह चुपचाप बिस्तर पर लेटी रही।

रोशनी आंखों में चुभ रही है। सिर का दर्द और तीव्र हो गया है, आंखें जल रही हैं, जैसे अभी उफन पड़ेंगी। दोनों आंखों पर हथेलियां रखकर दबाती है, चैन नहीं पड़ रहा किसी तरह। तकिया उठा कर सिर, आंख, कान—सब दबा लेती है।

पता नहीं क्या समय है। कोई पल्ला पकड़ रहा है, अपने शरीर पर कुछ स्पर्श अनुभव होते हैं। अधसोई अवस्था में बच्चे की किलकारी सुनाई दे रही है। गीता को लग रहा है—नन्हा-सा बच्चा उसके पास लेटा हाथ-पांव चला रहा है—छोटा-सा, बिना दांत का मुंह, सुनहरे बाल। वह हाथ बढ़ाती है। किसी ने बढ़ा हुआ हाथ पकड़ लिया, वह चौंक कर जाग गई।

समीर का चेहरा सामने आ गया। स्वप्न टूट चुका है।

'उफ ! सोते पर भी चैन नहीं लेने देंगे। अस्वस्थ शरीर, खिन्न मन और ऊपर से यह आमन्त्रण। आदमी क्या जानवर होता है !'

"मेरे सिर में बहुत दर्द है," गीता मुंह फेर कर लेट गई है।

समीर ठीक से बात नहीं करता; हर समय झल्लाता रहता है। गीता जानती है ये सब क्यों है, पर उस पर कोई असर नहीं पड़ता।

'वह सपने में मुझे देख कर मुस्कराता है, गोद में आने को लपकता है—उसकी पुकार कैसे अनसुनी कर दूं !'

पर समीर तैयार नहीं होता। गीता का कहना-सुनना सब बेकार हो गया है। अब तो एक ही धमकी बची है—'सुना है नींद की गोलियां

खाने से गहरी नींद आ जाती है; बहुत-से लोग इकट्ठी गोलिया खाकर आत्महत्या कर लेते हैं। मुझे न जलना है, न डूबना, न फांसी लगानी है, मरने का कोई इरादा नही है मेरा. गीता सोचती, 'बस इन्हें एक बार समझाना चाहती हूं कि इस पर मैं कोई समझौता नही कर सकती। 'ये' समझ जाएं तो सब समझ जाएगे।

'नीद की गोलियो से पीड़ा नहीं होती, शरीर विकृत और भयंकर नही होता और बचने की पूरी आशा रहती है।

'ये' साढ़े आठ तक कमरे में आते हैं, कपड़े वगैरह बदल कर पौने नौ की न्यूज सुनते है। बस ठीक है, नीद की गोलियां खानी होंगी। एक परचा लिख कर सेफ्टीपिन से तकिए मे लगा दू। सवा आठ पर गोलियां खा लूगी, साढे आठ पर 'ये' आएगे, परचा पढ़गे, फिर तो मुझे बचा ही लिया जाएगा।'

कचन की कापी, किताबें, पेन सब यहीं पड़े हैं। पढते-पढते यहीं छोड गई है। गीता कापी मे से बीच का पन्ना फाड़ लेती है। पेन लेकर सोच रही है, 'क्या लिखू ?'

'सम्बोधन ? नही, कुछ सम्बोधन नही। सीधे से लिख देना है—मैंने नीद की पन्द्रह गोलियां खाई हैं। रोज-रोज के क्लेश से अच्छा है, मैं ही न रहूं। अगर तुम घर मे मुझे उचित व्यवहार और मेरे अधिकार दे सको तो बचाने की सोचना, नही तो मेरे हाल पर मुझे छोड़ देना। इस प्रकार की जिन्दगी से ऊब कर मैंने मौत को अधिक अच्छा समझा।'

'बाद मे क्या लिखू 'तुम्हारी'? नही—जिसने अपना ही नही समझा उसके लिए कैसे 'तुम्हारी'!'

आखो मे आसू टपकने लगे है, 'क्यों रो रही हूं, मैं कोई मरी थोड़े ही जा रही हूं। यह तो एक धमकी है, बस, जिससे ये लोग सम्हल जाए।'

आसू पोंछ कर वह फिर लिखने लगी, 'सदा की अपराधिनी—गीता।'

नीद की गोलियां उसने खरीदी नहीं, चुराई हैं। चोरी के फन मे

तो गीता बचपन से माहिर है। किरन की एक सहेली के चाचा की दवाओं की दुकान है। एक बार घर से वह दवाओ के पैकेट कुण्डी में भरकर दुकान के लिए ले जा रही थी, रास्ते मे यहां रुक गई। ताऊजी के एक्सीडेण्ट के बाद गीता का दवाओ से काफी वास्ता रहा था। यों ही उलट-पलट कर देखने लगी दवाओं के पैकेट। पुरानी आदत ने जोर मारा, 'कभी-कभी रात में एक-एक बजे तक नींद नही आती,' उसने सोचा, 'क्यों न एक पैकेट पार कर दिया जाए!' और एक पैकेट उसने धीरे-से खिसका दिया। आलमारी में रख कर बिल्कुल भूल गई थी गीता, आज देखा तो फिर याद आ गई और रोते-रोते भी वह मुस्करा पड़ी अपनी कारस्तानी पर।

'चलो, इसी काम में आए।'

वह गिलास मे पानी भर लाई। चूडियों मे से सेफ्टीपिन निकाल कर पर्चा तकिए मे लाकर समीर के सिरहाने रख दिया। जी बड़े जोर से धड़कने लगा है।

'लिख तो पन्द्रह दी है, खाऊं कितनी! इतनी खाते तो डर लग रहा है, कही फौरन ही न मर जाऊं, जो कोई बचा भी न सके! नही... कुछ नही होगा। डाक्टर लोग पेट साफ करके बचा लेते है...पर बहुत देर न हो गई तो! बहुत देर काहे को होगी? साढे आठ पर तो 'ये' आ ही जाते हैं, न सही साढे आठ, आठ-पैंतीस सही।

'क्या बजा है? आठ-पाच,...नही अभी नही, आठ-पन्द्रह पर। अरे, आसू की बूंदें गिलास मे गिर रही हैं, मुझे रोना नही चाहिए। पर मन बहुत कच्चा हो रहा है, भीतर से हृदय उमड़ा आ रहा है। इच्छा हो रही है खूब रोऊ, रोती चली जाऊं। ये सब बेवकूफी है, मैं तो बच जाऊंगी, 'ये' बचा लेंगे। ऐसे कही कोई किसी को मरने देता है!

'ये' पछताएगे क्या? कहेंगे—माफ कर दो, गीता, मैंने अन्याय किया है। जब सासजी इनके कान भरती और 'ये' बोलते-बोलते ताव खाकर हाथ चलाने पर उतर आते, तब बाद में सोचती कि अब शायद मनाएगे—मुझे माफ करो गीता! पर वह कभी नही हुआ। अरे, क्या बज गया—आठ बज कर बारह मिनट। अभी नही, थोड़ी देर बाद।

'क्या सोच रही थी...क्रम ही नहीं जुड़ पा रहा। मन उद्विग्न है।...पता नहीं 'ये' ऐसे क्यों हैं। इस घर का ढर्रा ही कुछ दूसरा है। 'ये' जानते हैं—अम्मां बेकार लगाती-बुझाती हैं, फिर भी उन्हीं का समर्थन करते हैं। अब तो मैं भी जवाब देने लगी हूं,...न बोलू तो पागल हो जाऊं। कभी तो ऐसा लगता है, मेरा अपने ऊपर कोई वश नहीं रहेगा। सब कुछ फेंकना, तोडना, फोड़ना शुरू कर दूंगी। इच्छा होती भाग जाऊं यहां से, कहीं भी चली जाऊं, यहां न रहूं ! कभी-कभी कमरा बन्द करके बैठ जाती। सुबह से शाम तक कोई कुछ कहने नहीं आता था। सासजी द्वारा उकसाए गए ससुरजी दरवाजे पर आकर आवाज देते—बहू, दरवाजा खोलो। बहू मेरी इज्जत का ख्याल करो ! और उनके स्वर के आगे मेरी जिद टूट जाती।

'अब क्या बज गया ? सवा आठ बज चुके। समय हो गया... जरा और रुक जाऊं ! कहीं 'ये' देर में उठें तो। और दो मिनट बाद सही।

'इनके मन की करुणा जगाने को कितना-कितना रोई हूं...पर अब मैं इनके सामने बिलकुल रोना नहीं चाहती। कितनी रातें मैंने अनसोई गुजारी हैं, किसी को क्या मालूम।...और उस दिन क्या हुआ था—ज्वर के कारण मेरी देह जल रही थी, मैं ओढ़े हुए चुपचाप पड़ी थी। इनने आकर कहा था—तुमने नहीं कहा तो न सही ...अम्मां को ऐसा लगा होगा। माफी मांग लो,छोटी नहीं हो जाओगी।

'माफी मांगने का मतलब है, मैंने कहा, कि मैं मानती हूं कि मैंने यह सब कहा। वह तो अपने-आप ही अपने लिए कहती जाती हैं—हां, मैं राक्षसी हू, हत्यारी हूं, मैं तो डायन हूं। और नाम मेरा आ जाता है।'

"घर की हर समय की किटकिट से परेशान हो गया हूं। अरे, तुम्हीं झुक जाओ !"

'पर मैंने माफी नहीं मांगी थी।'

'बाहर फिर कुछ कहा-सुनी हुई थी। 'ये' तमतमाए हुए कमरे में आए थे। मेरे गाल पर थप्पड़ मारने वाले इनके हाथ ने ताप का अनु-

भव किया होगा। 'ये' ठिठके थे जरा, मेरी ओर अजीब-सी नजरो से देखा था, जैसे दो अजनबी एक-दूसरे को तौल रहे हों। फिर बाहर निकल गए थे।'

"अम्मा, उसे तेज बुखार है।"

गीता को सब याद आ रहा है—'मैंने सोचा था, तुम मेरे पास आओगे। रात भर बेचैनी से करवटें बदली थीं मैंने। जरा-सी आहट पर आखें खुल जाती थी। ज्वर के ताप मे आंसू सूख गए थे, बार-बार, सूखी हिचकियां गले को मरोड़े डालती थी, 'तुम पानी को पूछने भी नही आए—तुम्हारी ऐंठ थी न!'

'बाद में पता चला तुम्हारी मा ने तुम से कहा था—तुम थके हो आराम से बाहर सोओ, मैं उसे देख लूगी।'

'और आज्ञाकारी तुम बाहर सोने चले गए थे। मै जानती हू तुम तो खर्राटे भर-भर कर निश्चिन्त सो गए होगे, मेरा ध्यान ही कहा आया होगा तुम्हे! तुमने कहा था—अम्मा क्या सोचेंगी!

'तुमने यह नही सोचा, मां तो वह तुम्हारी थीं, हरेक की कैसे हो सकती थी? वह तो हमेशा से सुनाती आई थीं—फला जगह से इतना आ रहा था, फला ने इतना देने को कहा था। शादी के बाद भी कुछ चिट्ठिया आ गई थी। मुझे नीचा दिखाने के लिए वह उन्हें लेकर बैठ जाती—हँसती जाती, सुनाती जाती, झीकती जाती थी। वह तो चाहती ही थीं, एक मरे तो दूसरी आ जाए, और सामान, और पैसा लेकर!...और मै कहां जाऊ! अब तो मायके मे भी ठिकाना नही, वहां का सुख-चैन नष्ट हो जाएगा, छोटी बहन के ब्याह में बाधा पड़ेगी। नहीं, वहां मेरी जिन्दगी पार न हो सकेगी।

'अरे, अब तो आठ-पच्चीस हो गए। जल्दी-जल्दी खा लू!'

उसने पानी का गिलास उठाया, एक गोली मुह मे डाली—घुट्ट, दूसरी डाली—घुट्ट, तीसरी—घुट्ट!

'यह कैसी आहट...कोई आ रहा है!'

हड़बड़ी मे कई गोलिया मुंह में डालीं...एक बार, दो बार, तीन बार। कितनी खा ली...गिनती ही नही पता, जाने कितनी खा ली।

शीशी बिस्तर पर गिर पड़ी है। पानी का गिलास रखते-रखते जमीन पर गिर पड़ा—टूट गया गिलास। गीता ने निढाल-सी हो सिर तकिए पर रख दिया...सिर में कुछ गोल-गोल घूम रहा है।

आंखों में जलन हो रही है बुरी तरह—'मैं बचूंगी नहीं क्या ? 'ये' बचा लेंगे...पर पता नहीं कितनी देर में आएं। मुझे कैसा लग रहा है...।

'कोई आ रहा है, कुछ आहट सुनाई दे रही है। लौट गया जो आया था। यहां कोई नहीं आएगा। अरे, 'ये' कितनी देर में आएंगे। मैं मर रही हूं और उन्हें पांच मिनट की फुर्सत नहीं।

'कैसी सनसनाहट-सी लग रही है...कहीं कोई आहट नहीं, बस नींद का अन्धेरा। इधर-उधर कहीं कुछ नहीं।'

उसे लगा चक्कर-पर-चक्कर खा रही है। सब कुछ घूम रहा है। आंखें खोलना चाहती है, खुलती नहीं। कानों में कैसी-कैसी आवाजें आ रही हैं—सांय-सांय, भांय-भांय। विचित्र-विचित्र ध्वनियां!

"क्या होश आ रहा है ?"

"शायद...पलकें हिल रही हैं जरा-जरा...।"

गीता याद करने की कोशिश करती है कुछ याद नहीं आता, कुछ समझ में नहीं आता। पलकों पर तो जैसे मन-मन भर का बोझ रखा है। भीगेपन का शीतल स्पर्श माथे और आखों पर अनुभव हो रहा है।

"कल रात से ऐसे ही पड़ी है। डाक्टर कहते हैं, अब भी होश न आया तो बचने की उम्मीद बिल्कुल नहीं है।"

"अच्छा तो ये लोग बचाने आए हैं। कमरे में चलाफिरी हो रही है 'ये' भी जरूर होंगे!' धीरे-धीरे कुछ याद आने लगा उसे।

"बहू, अब कैसा लग रहा है," कान के पास सास की आवाज थी।

पहली बार स्वाभाविक स्वर है, गीता को विश्वास नहीं होता,

वह हल्के-से आंखें खोलती है, 'पैताने कौन हैं, यह कैसे उजाड़-सा चेहरा लिए खड़े हैं। ऐं, ससुरजी भी हैं!'

"बहू लेटी रहो आराम से," ससुर कह रहे हैं।

कप में पानी और चम्मच लेकर समीर आगे बढ़ा है—उसने धीरे-से मुंह खोल दिया।

'आज इन्हें शरम नहीं आ रही सबके सामने पानी पिलाते!'

ऊपर से कोई झुक आया है, "गीता, मुझे माफ कर दो, तुम बहुत नाराज हो!" माथे पर पानी की बूंदें टपकीं।

गीता को अन्दर-ही-अन्दर हँसी आ रही है। आंखें पूरी तरह खुल नहीं पा रही हैं।

'मेरे आंसुओं पर दया आई थी किसी को? तुम्हें कैसे माफ कर दूं?'

गीता कोशिश करके भी बोल नहीं पा रही।

सास-ससुर कमरे से बाहर चले गए हैं। समीर ने आगे बढ़ कर गीता के दोनों हाथ पकड़ लिए, "मुझे माफ नहीं करोगी गीता?"

"उससे क्या होगा, तुम क्या बदल जाओगे... बेकार की बातें..." अधिक बोला नहीं गया उससे।

समीर निराश होकर बाहर चला गया।

बाद में किरन ने बताया—भैया के गले में एक बूंद पानी भी कल रात से नहीं गया। अम्मा से बहुत नाराज हो रहे थे। पड़ोस में तरह-तरह की बातें हो रही हैं। सब कह रहे हैं, 'बहू को जहर दे दिया।' बाबू ने अम्मां से कहा—"तुम उसे चैन से नहीं रहने दे सकती तो अलग कर दो!"

रात में समीर आया—सूखा-सा चेहरा लिए। पीछे-पीछे गीता की मां और बहन आईं। खुद लेने गया था समीर उन लोगों को। मां को देख गीता के चेहरे पर चमक आ गई। तीन वर्ष की बिछुड़ी बेटी को इस दशा में पाकर मां की [illegible] ध गई [illegible] बाहर चला गया।

कल सुबह अस्पताल से छुट्टी मिल जाएगी। पर गीता ने कह दिया, "मुझे अब नही जाना है उस नरक मे। वहा रहने से तो मौत अच्छी !"

किरन ने पिता से कहा, 'भाभी घर जाने को तैयार नही हैं।'

ससुर सीधे गीता के पास चले आए, "बहू, अब माफ करो। तुम्हारी सास भी बहुत पछताई है, लोग जाने क्या-क्या कह रहे है, तुम्हे अब कोई शिकायत हो तो मुझ से कहना।"

"बाबूजी, अब उसकी जरूरत नही पड़ेगी। वह नही रहना चाहती यहां, तो न रहे। जब से आई है एक बार भी मैके नही भेजा गया। अब उसे चले जाने दीजिए। लोगों के कहने की चिन्ता कहां तक की जाएगी। जब उसकी इच्छा होगी और कुछ व्यवस्था कर पाऊंगा तो ले आऊंगा !" यह समीर की वाणी थी।

फिर गीता की मा की ओर घूम कर बोला, "माजी, अपनी बेटी से कह दीजिए, उस पर अब कोई रोक नही लगाएगा।"

गीता ने धीरे-से जवाब दिया, "मा, अभी तो तुम्हारे साथ जाऊंगी, बाकी सब फिर बाद मे देखा जाएगा।"

पलवतिया

रोज-रोज का उसका यही ढर्रा देखकर मैं खीझ उठी थी। उसके आते ही बरस पड़ी, "साढ़े पांच बज रहे हैं और अब तुम आ रही हो ? आखिर काम कब होगा ? मैं तो तुम से कहते-कहते थक गई, तुम्हारे ऊपर असर ही नहीं पड़ता।"

आंगन के कोने में अपना डंडा टिकाकर उसने चप्पलें उतारीं और नल के नीचे लगाने को बाल्टी उठाई।

"का करी बहू, सुबे चार बजे उठित हैं तऊ काम नहीं सपरत। आज पप्पू के बप्पा का मिल पठै के हम उद्यापन में लगी रहिन।"

'काहे का उद्यापन ?"

"सुक्करवार का। चहा तक नाहीं पिएन, दौर-भाग करत-करत इत्ती बिरिया भई। बुढऊ हरामजादा तो फली नाहीं फोरत हैं। हम बनावा, सबका खवावा तौन सीधी हियां आइत हैं।"

'अरे, उद्यापन तो आज हुआ। तुम्हारा रोज का यहीं ढंग है।"

कहती हुई मैं कमरे में आकर धम्म से पलंग पर बैठ गई।

न बहुओं को काम करने देगी न खुद से होगा। छोड़ती भी तो नहीं जो दूसरी ही ढूंढ लूं। जब कहा-सुनी करो तो दो-एक दिन साढ़े तीन बजे आ जाएगी नही तो वही चार साढ़े चार-पांच। भला यह भी कोई चौका-बर्तन करने का टाइम है!

और कुछ कहो तो अपना दुखड़ा लेकर रोने बैठ जाएगी। [illegible] की ससुराल यहीं शहर में है। पर उनकी सास विदा नहीं करती [illegible] की। श्यामू गए तो कह दिया, "नहीं विदा करेंगे हम।"

"घर की खेती हो गई। फिर ब्याह क्यों किया था [illegible]

बैठाए रखते। तुम लोग भी अजीब हो, कह क्यों नही देते—जाओ, रख लो। हम भी नही बुलाएंगे।"

"हम लोगन में ये सब नही चलत है बहू। ऊ अपनी बिटिया केर दूसरी सादी करन का तय्यार हुई जाई तो का होई ? ऊ तो कहती है, एक महीना हमार बिटिया ससुरार रही तो एक बरिस पीहर मा रही।"

"और वहां उससे चार घर का चौका-बर्तन और घर भर का काम करवाया जाता है ! तुम क्यों नही उसे काम करने ले जाती ?"

"का करी बहू, हमार घर के मरद नाही निकरन देत हैं। बुढऊ हरामजादा तो हमऊ से कहित हैं, घर मां बैठि के बहू की रखवारी करो।"

मैं खिसिया उठती हूं, "तो तुम भी छोड़ो काम-धन्धा और बैठ जाओ घर। वो बैठालते हैं तो तुम्हे क्या परेशानी है ? और फिर अब तो बुढऊ पप्पू, श्यामू सब कमाते है।"

"कमाइत तो हैं बहू, बाकी हम जिनगी भर काम करा तो अब खाली बैठ जाई का ?"

"बुढ़ापे मे आराम करो।"

"आराम कबहू ना मिली बहू," वह हाथ हिलाकर कहती है, "घरऊ का धन्धा करो, बाहरऊ करो तऊ बुढऊ गरियात हैं। जवान-जवान लरिकन का आगे जौन मुंह मे आवत है तौन बकत हैं। कहत हैं, साली को घर मे चैन नही पड़ता। सच्ची बहू हम तो कहि दिहिन, कबहू हमका एक धोती लाय के पहराइन है ? तुम्हारी सबकी उतरन पहिन के जिनगी गुजार दिहिन।"

शुरू-शुरू मे अपने आदमी की बात आने पर उसके मुंह से 'बुढ़ऊ हरामजादा' सुनती थी तो हँसी भी आती थी गुस्सा भी। पहले समझ मे नही आया तो पूछना पड़ा, "कौन ?" तो बोली, "अउर किसउ का काहे कहि हैं ?" और दो-एक गालियां सुना दी थी उसने बुढऊ के नाम पर।

देखा तो नही है कभी पर यही बताती रहती है। महरी का आदमी उससे बालिश्त भर छोटा है, बड़ा दुबला-पतला, पक्के रंग का, पक्के

रंग से उसका मतलब होता है चमकता, गहरा काला रंग।

महरी खूब लम्बी है। अब तो कमर झुक गई है, डंडे के सहारे बिना सीधी होकर खड़ी नही हो पाती। एडी भर-भर महावर लगाती है और माथे पर बड़ी सी कत्थई प्लास्टिक की बिन्दी। गेहुआं चेहरे पर अभी सलोनापन है, जवानी में बहुत आकर्षण रहा होगा।

कहती है, "श्यामू, पप्पू हमारे डील पे गए हैं, बड़कऊ बुढ़ऊ जैस छोटे रहि गए।"

"क्या पप्पू से भी बड़ा है कोई ?"

"दुई हैं बहू। एक तो गांव मे रहत है और जे हरसराम फौज की डिरावरी की नौकरी तें रिटायर हुई के आय गए हैं हियन। बाबू के आपिस मां डिरावरी की नौकरी होय तो लगवाय देओ।"

"अब कहां है? पिछले साल जरूरत थी तब तो तुमने कहा नही। उसे तो पेंशन मिलती होगी ?"

"मिलत तो है, मुला सब खरिच देत हैं। कल दस रुपैया ले गई रहिन ऊ पाच की मछरिया लै आए। तब रात मा मसाला पीसेन, मछरी धोय-धाय के बनाइन। खावत-उठाइत ग्यारह बजिगवा।"

"क्यों दे देती हो तुम ? महीने भर मेहनत करो तुम और वो मछली में उड़ा दें।"

"मांगत हैं बहू, हाथ में रुपैया होय तो नाही कैसे करी ? कुछ दिनन मां गाव चले जइहै तब काहे हमसे मागन अइहैं ?"

सुबह के चौके निबटाते-निबटाते उसे नौ बज जाते है। फिर जाकर गोड़ सीधे करती है और खाने का लग्गा लगाती है। पप्पू की बहू अपने मायके में है, रामू की यही शहर में पर उसकी मा उससे चौके करवाती है ससुराल नही भेजती।

बड़ा सब्र है महरी मे, कहती है, "देखे जाओ बहू, दुइ-चार बरिस में बच्चा-कच्चा हुई हैं तब देखी महतारी-बाप कित्ते दिन रखित है। अब ही तो अकेल परानी है, चार चउका करिके हाथ पै पइसा धरत है, घर का धन्धा करत है तौन ऊ काहे भेजी ?"

महरी बताती है बुढऊ डेढ़-दो बजे आते हैं तब वह खाना बनाती

है। अपने घर के कच्चे आंगन में उपलों की धुआती आंच पर धीरे-धीरे रोटिया सेंकती है। सूरज सिर पर आ जाता है तो छतरी लगा लेती है।

लो, मैं तो ऐसे कहे जा रही हूं जैसे महरी की राम कहानी कहनी हो। परेशानी तो मुझे है कोई क्या समझे।

सुबह सब लोग ग्यारह बजे तक खा-पीकर निकल जाते हैं—ये जाते हैं साढे नौ पर अपना लंच-बॉक्स लेकर, रवि, छवि दस-सवा दस तक और मिन्टू का तो स्कूल पास है बारह बजते-बजते लौट आता है और खाना खाकर सो जाता है, तो चार बजे तक की छुट्टी। ग्यारह बजे तक भी वह काम करने आए तो चौका खाली हो जाता है। शाम तक जूठे बर्तन फैले रहें कितना बुरा लगता है। गन्दे चौके और जूठे बर्तनों मे चूहे दौड लगाते रहते हैं, उधर निगाह डालने की इच्छा नही होती।

वैसे तो महरी चौका धोकर कपड़े से पोंछकर फौरन सुखा देती है। पर मुझे तो यह कुढ है कि वह जल्दी आती क्यों नही।

जब उससे तय किया था तो पहली बात मैंने यही कही थी कि काम दोपहर ग्यारह-बारह बजे तक कर लेना होगा। इस बात पर मैंने मुंहमागे पैसे दिए थे—पन्द्रह रुपया महीना। मैंने तो ये भी कह दिया था कि फिर पाच बजे तक कोई घर मे नही रहता।

लेकिन वह तो जानती है न कि चौका-बर्तन कराए बिना मैं जाऊंगी कहा? वह अपने उसी समय पर आती है और मैं इन्तजार करती मिलती हूं जैसे मैं ही उसकी नौकर होऊं। मैं तो बिल्कुल बंध गई हूं—कहीं जा भी तो नही सकती। जानती हूं वह चार बजे से पहले नही आएगी फिर भी बैठी-बैठी बाट जोहती हूं—बीच मे निश्चिन्त होकर सो भी नही सकती। जरा झपकी आई और कुण्डी खटकी तो फौरन उठना पडेगा। नींद तो हिरन हो जाएगी और सिर दर्द करता रहेगा शाम तक। ऐसा कई बार हो चुका है।

बार-बार घडी देखती हूं। इतने बज गए अभी तक नही आई—सोच-सोचकर झीकती हूं उसके नाम को।

उस दिन तो हद हो गई। मैंने सुबह ही कह दिया था, "हम लोगों को कहीं बाहर जाना है, आज जल्दी आना।"

उसने अच्छी तरह आश्वस्त किया वह ग्यारह-बारह तक आ जाएगी, पर नहीं आई। पप्पू आया पौने चार बजे। पूछा, तो कहने लगा, "अम्मां ने कहा ही नहीं।"

"तुम्हारी अम्मां के बस का काम नहीं है पप्पू, तुम अपनी दुलहन को क्यों नहीं बुला लेते ?"

"हम अपने मुंह से कैसे कहें बहूजी ! घर वालों की इच्छा होगी तब वही बुलाएंगे।"

घर वाले भी अजीब हैं। पप्पू की बहू का मायका यहीं धरा है क्या ? इतनी दूर गोंडा से बुलाने में किराया खर्च होता है। पप्पू का ससुर भी बड़ा जबर आदमी है कहता है, "नौकरी करके पेट भर सको तब विदा कराना।"

"क्यों तुम इतनी लम्बी और तुम्हारा दुलहा बालिश्त भर छोटा ! तुम्हारे पिता ने देखा नहीं था पहले ?"

"अरे बहू, अब ऊ सब मत पूछो। का बताई...बाप का सराब की लत रही और हमार बियाह की अइस जल्दी पड़ी रही कि महीना भर मां जइस मिला तइस कर दिहिन।"

"इतनी जल्दी क्यों पड़ी थी, क्या उमर थी तुम्हारी ?"

"उमिर ? उमिर हमका जानी बहू। सुरू से डील अच्छा रहा हमार। महतारी कहत रही तेरह बरस की उमिर में पूरी ज्वान लगत है।"

बाद में कई बार में धीरे-धीरे करके उससे पता लगा था—

तब वह महरी नहीं फुलमतिया थी। ऊंची पूरी, यौवन भरा तन और सपनों भरा मन। एक दिन बदलू ने उसके बाप से कहा था, "फुलमतिया से बियाह करूंगा।"

बचपन का साथी था वह फुलमतिया का। दूसरे टोले में रहता

था। बचपन के खेल बन्द हो गए पर आपस की बोल-चाल बन्द नहीं हुई। चुपके-चुपके कचौरिया लाता था बदलू उसके लिए, इमली की चटनी के साथ।

एक बार फूलमती के बाप ने देख लिया, बदलू को पकड़ लाया घर के अन्दर।

बदलू जरा नहीं डरा। उसने तनकर कहा, "बियाह करूंगा फुलमतिया से।"

फूलमती की ऊपर की सांस ऊपर नीचे की नीचे।

बाप ने जवाब दिया, "फुलमतिया से बियाह करने को गज भर का कलेजा चाहिए।...फिर तुम हो क्या? न हमारी जाति के न बिरादरी के। हम कहार है तुम काछी, हमारा तुम्हारा क्या जोड़ा?'

बस यही मात खा गया था वह।

फिर भी मन का मोह नही टूटता था। रास्ते मे मिल जाने पर चाव-भरी आखो से देखता, कहता हुआ निकल जाता था, 'कब तक तड़पाएगी फुलमतिया।"

मैंने उत्सुकता से से पूछा था, "कैसा था बदलू?"

"अब पूछि के का होई वह? हमार तो जलम इनहिन के हाथ बिकिगा।"

फूलमती रोती रही थी पर अपने मन का कर नहीं सकी। बाप तो वैसे ही मा को पीटता था। कहता था, "तू ही लड़की को बेकाबू छोड़ रही है। *कुछ आगा-पीछा हो गया तो न मां को छोड़ूंगा न बेटी को; न उस हरामी की औलाद बदलू को। फिर चाहे फासी ही काहे न लग जाय।"*

एक बार फूलमती के भाई लाठिया लेकर खड़े हो गए थे। बात कुछ नही थी, रास्ते में बदलू मिल गया था और फूलमती रोक नहीं सकी थी—दो मिनट बात करने में ऐसा क्या बिगड़ जाता। पर भाइयों *को लगा उनकी इज्जत का सवाल है।*

फूलमती आड़े हो गई थी. "तुम्हारा सिर नीचा न होई भइया, हम ऐसे कबहूं न करी। बदलू का जान देओ।"

"अब कहां है वह," मैं पूछती हूं। वह कुछ जवाब नहीं देती। गहरी सांस छोड़कर बर्तन मांजने चल देती है।

कितनी तेज धूप है। अचार के अमृतबान रखने छत पर गई, इतनी देर में ही सिर चटख गया। ढाई बज भी तो गया है। मिन्टू कब का सो रहा है, पर मुझे नींद कहां? दिन में ज़रा-सा सो जाऊं तो कोई-न-कोई आकर दरवाज़ा भड़भड़ाने लगेगा। सबसे बड़ा झंझट है इस महरी का। जिस दिन सो जाऊं उस दिन जरूर ये दुपहरी में जगाएगी।

वैसे तो चार से पहले रवि, छवि तो आते नहीं और इनका लौटने का तो ठिकाना ही नहीं, साढ़े पांच से पहले तो सोचना ही बेकार है, कभी-कभी छः-सात भी बज जाते हैं। मैं तो ऊब जाती हूं। दिन भर घर में करूं भी क्या। थोड़ी-बहुत सिलाई या इधर-उधर का काम कर लिया बस। गर्मी में कुछ करने की इच्छा भी नहीं करती। कढ़ाई करने का शौक है पर रोज-रोज उससे भी जी ऊबता है।

सिर अभी भी गरम है—पांच मिनट और धूप में खड़ी रहती तो चक्कर आ जाता।

अरे, महरी अभी तक नहीं आई। आंगन में छाता लगाकर उपलों की धुएंदार आंच में धीरे-धीरे रोटियां सेंक रही होगी। उपलों की आग फूंकते-फूंकते राख उसके बालों में भर जाती है, आंखें लाल हो जाती हैं। ढाई-तीन तक खा-खिलाकर सफाई करती है, बर्तन मांजती है फिर गोड़ सीधे करते-करते चार बज जाते हैं, रोज।

लेकिन मैंने जब पहले ही तय कर लिया था तब क्यों 'हां, हां' कर लिया था इसने। एक-दो दिन तीन बजे आई भी पर आकर कमरे में पंखे के नीचे ज़मीन पर पसर गई। काम करने उठी वही चार बजे।

लकड़ी का सहारा लेकर तेज धूप में धीरे-धीरे चलकर आती है। कहती है, "मूड़ तचि गया।"

मैं क्या करूं? बहू को क्यों नहीं बुला लेती। लड़के भी तो का कुछ काम नहीं करते। सुबह खुद जाकर दूध लाती है, चाय व

है और हरेक को उसकी जगह पर जाकर पकड़ाती फिरती है। लड़के भी मजे के हैं—एक तो बीस का होगा, श्यामू दूकान पर काम करता है और दूसरा पप्पू उससे दो साल छोटा, ठेला लगाता है। पर आलू उबालना, छीलना, मसलना, गोलियां बनाना, बेसन घोलना, चटनी पीसना सब काम मा से करवाता है। फिर, टाइम से खाना चाहिए। बुढ़िया झीकती जाती है और सब काम करती जाती है।

ऊंह, मुझे क्या ? मुझे तो रोज झिकाती है—चौका जूठा पड़ा रहता है शाम के पांच बजे तक। जितना मैं देती हूं कहीं से नहीं मिलता होगा। होली-दिवाली पर नकद दो-दो रुपए, खाना अलग। कपड़े भी पा ही जाती है दो-चार जोड़े, जो काफी मजबूत होते हैं। मेरी साड़ियां वैसे भी जल्दी घिसती नहीं, ब्लाउज उसके नहीं आते—इतनी लम्बी जो है।

दो चार-दो चार रोटियां रोजही बचती हैं और कभी-कभी दस-बारह भी। बासा सब उसी को मिलता है। सुबह बासी दाल या तरकारी के साथ एकाध रोटी खा लेती है, बाकी बांध लेती है, "पप्पू नाश्ता कर लेई।"

एक बार दाल कुछ महक गई थी। मैंने उसे बता दिया था, "दाल कुछ खराब हो गई है, फेंक आना।"

जब नहाकर मैं आंगन में निकली तो देखा वह जल्दी-जल्दी दाल सड़ोप रही थी। मुझे देखकर सकुचा गई। मुझे जाने कैसा लगा।

"दाल खराब थी इसलिए मैंने सब्जी रख दी थी, वह क्यों नहीं खाई ?"

"तुम्हार घर की तरकारी बुढ़ऊ का बहुत पसन्द है। घर लै जइब।"

"और तुम सड़ी दाल खाकर बीमार पड़ोगी।"

"सवाद खराब नहीं रहा बहू, जरा-सी महक गई रहै। नुकसान ना करी।"

अब तो ऐसी चीजें मैं खुद ही फिकवा देती हूं—खाएगी तो बेकार बीमार पड़ेगी।

महीने में दो-एक बार तो पड़ ही जाती है। कभी पेट दर्द, कभी पेचिश। दो-तीन दिन मे बुढ़िया का चेहरा बिल्कुल उतर जाता है।

मैं भी कहा बुढ़िया पुराण लेकर बैठ गई। सवा चार बज गए हैं अभी तक आई नहीं है।

"वह चक्करदार ऊंचा वाला झूला गड़ा है उधर का पारीक में। झूल आओ बाबू केर साथ।"

"मुझसे झूले पर नहीं झूला जाता। जब झोंका नीचे आता है तो दिल डूबने लगता है।"

वह छेड़ती है "बाबू केर साथ बैठिहो। उन केर कन्धा का सहारा लै लिहो। दिखिओ कैस साध लेत हैं तुमका।"

मुझे हँसी आ गई। मैं उसके चेहरे को पढ रही हूं—क्या अपना अतीत दोहरा रही है ?

"आज अपने दिन याद आ गए हैं. महरी ?"

वह चौंक गई, 'कहा, दुई बार बैठी हुतीं। सामू के बप्पा को किसऊ का शौक नाहीं।"

"कहा झूला झूला था, यहां या वहा ?"

"हिया कौन बैठाई हमका ?"

रंग मे आने पर गाव के गीत और मेले के किस्से फुलमतिया खूब सुनाती है। रंगबिरंगी चूड़िया, फुंदनेदार चुटीले, क्लिप और जाने क्या-क्या बिकता था। मेले मे ऐसी भीड़ होती थी कि कई बार फूलमती मां-बाप से अलग हो गई।

उसका बताया गाव के मेले का दृश्य मेरे मस्तिष्क मे साकार हो उठा है। रंगबिरंगी चुनरियों में सजी ग्रामीणाओं की भीड़; दुकानों पर खरीदारी की होड लगी है। चाट के, जलेबी के ठेलों पर भीड़ जमा है। झुंड-के-झुंड लुगाइयां, पगडी बांधे आदमी, मचलते बच्चे, उड़ती हुई धूल, बैलों के गले में घंटियां और गाडियों की चर्मर ध्वनि के बीच मे उठती ग्रामगीतों की कड़ियां।

फूलमती ने पहले ही तय कर लिया है—मां-बाप सोचेंगे बिटिया मेले में हिरा गई, कही रो रही होगी अकेली।

देवी के थान के पीछे बदलू खड़ा प्रतीक्षा कर रहा है। फूलमती पहुँच जाती है। दोनों चाट खाने पहुँचे। फूलमती खूब मिर्चें डलवा लेती है। सी-सी करती जा रही है, खाती जा रही है और ही-ही करके हँस रही है—आँखो मे पानी भरा आ रहा है। बदलू सब कुछ भूल कर उसकी ओर देख रहा है। दोनों मगन हैं।

मा समझ रही है फुलमतिया किसी दुकान पर होगी या हमजोलियों से बातें कर रही होगी। बाप को अभी कुछ पता नहीं है। काफी देर बाद जब पता चलेगा वह खो गई, तब खोज-ढूढ होने से पहले वह पहुँच जायगी।

पर एक बार सचमुच ही ढूंढ पड गई—बडी देर कर दी फूलमती ने।

"हिया सहर मे मेला नाही लागत है?"

गाव के मेले की बात करते-करते वह वर्तमान को भूल जाती है—आंखों में सपने छलक उठते हैं। चेहरा माधुर्य से दीप्त हो उठता है।

उस दिन वह झूला झूलने मे समय का भान भूल बैठी थी। जहाँ झूला नीचे आता वह घबरा कर बदलू का बलिष्ठ कन्धा पकड लेती। वह मुस्करा कर उसे साध लेता। फूलमती को लगता यह क्षण कभी समाप्त न हो।

बदलू ने उसे टिकियों वाला रेशम का चुटीला और चमकीली बिन्दी दिलाई थी। जलेबी और कचौडी खिलाई थी। कई बार उसने यह सब कबूला है।

गाव उसे बहुत याद आता है, जहा मेला लगता था, जहां झूला गड़ता, चटपटी चाट थी और जाने क्या-क्या था।

इधर फूलमती की ढूंढ पड़ गई थी, तभी वह बदलू के साथ आती दिखाई दी। जल्दी-जल्दी आकर वह मा से लिपट गई, "अम्मा, तुम कहां चली गई रहो? हम बिंदियन की दूकान देखत रहेन और तुम हमका छोड दिहिन...हम सारे मेला मा खोज फिरेन।"

"ये हुंअन अकेली रोय रही थी, हम कही चलो हम ढुंढवाय देई।"

मां असीसें दे रही है, "तुम नहीं होते भैया बदलू, तो हमार फुलमतिया हेराय जाती।"

बाप चुप है, गंभीर।

फुलमती के चेहरे पर खोने वाली क्लान्ति नही है—दमक है पाने वाली।

"बहू, बाबू का कोई पुरान-धुरान सूटर होय तो हमका मिल जाय।"

'उनका स्वेटर तुम्हारे कहां आएगा ? कार्डिगन दिया तो था।"

"हमका नाही बहू, बुढऊ ठंड में कँपकँपाय जात है। कहत रहे, 'अपने लिए तो माग लाती है साली, और किमड का ध्यान नहीं।"

मुझे ताव आ गया है. "तुम तो हमारा काम करती हो, बुढ़ऊ क्या करते हैं ?"

"करत तो कुछ नाही बहू, पर ऊ हरामजादा हमार मनई है। हमका गरियात है। दुई दिन हुई गई खांसी के मारे रोटी नाही खाय पाइत है। हमार ऊपर दया हुई जाय, बहू।"

वह मेरे हाथ जोड रही है। मन नही करता, पर उसकी बहुत विनती पर इनका एक पुराना स्वेटर निकाल देती हूं—बेकार कपड़ों का करूंगी भी क्या ?

ठंड में सिकुड़ती रहेगी पर मेरा दिया कार्डिगन सहेज कर रख देगी बर्तन मांजते समय। इसे क्या, बीमार पड़ेगी तो परेशानी तो मुझे होगी।

'क्यों, कार्डिगन क्यों नही पहनती ?"

"ऊ लंबा है। नीचे लटक आवत है, पल्ला कैसे घुरसी ?"

"अरे, ऊपर से पहनो, धोती के ऊपर से। जैसे मै पहनती हूं। धोती भी कसी रहेगी।"

"अब का फैसन करी बहू ! जवान-जहान रही तबहूं कोई सौख पूरा नाही किएन, अब का...।"

"बुढ़ऊ खुश हो जाएंगे देखकर, कहेंगे—आज बड़ी अच्छी लग रही हो।" मैं हंसती हूं।

"खुस नाही, जल मरि हैं। कबहूं कुछ लाय के नाही दिया। माग-जाच के रंगीन कपरा पहिर लेय हम तो खौखियाय के दौरत हैं। चिल्लात हैं हमार ऊपर। कहत हैं—दुनिया को दिखाने जाती है साली, यारी जोड़ती फिरती है इधर-उधर।"

"अरे...!" मैं विस्मित रह जाती हूं। सुन्दर पत्नी के हजार नखरे आदमी सह लेता है यहां ये कैसी उल्टी बात !

मनुष्य का स्वभाव, विशेष रूप से इन स्त्रियों का चक्कर में डाल देता है। कुछ-कुछ समझ रही हूं अनसमझा बहुत-कुछ रह जाता है। इसके आदमी को हमेशा यही खटकता है कि यह बदलू जैसे आदमी को चाहती थी और वह खुद बहुत घटिया है। बालिश्त भर छोटा तो है ही, शक्ल-सूरत भी अजीब—गहरा काला रंग, मुंह कुछ आगे को निकला-सा, दुबला शरीर। पर शादी से पहले ये सब क्यों नहीं सोच लिया था ?

शुरू-शुरू में लोग छींटाकशी करते थे, "मेहरिया अइस, जइस गुलाब का फूल और मरद, जइस कांटा।"

ब्याह कर यहां आई तो टोले-पड़ोस के लोग फूलमती को अपनी ओर आकृष्ट करना चाहते थे। एकाध ने अकेले में कहा था, "तेरे जोड़ का मरद नही है रे, फूलमती। हमारी चूड़ियां पहन ले फिर हम सब निबट लेंगे...उस आदमी में दम ही कितना।"

"अच्छा !" मैं थोड़ा आश्चर्य व्यक्त करती हूं।

"हमारे हियां ई सब चलता है बहू, पर धन्न है हमार छाती, किसउ पर मन नाही डोला। रूखा-सू[illegible] के जलम बिताय दिहिन।...अब का है बहू, बुढापा है। [illegible] चैन नाही ले[illegible] देता, सक के मारे मरा जात है। हमसे [illegible] बिग[illegible] हैं। मरदों से आंख लड़ाती फिरती है।

"हम बियाह के बाद किसऊ को [illegible] तौन हमार आंख फूटि जाय—।"

वह रोटी हाथ में पकड़े है। कह रही है—"अन्न देवता हाथ में हैं बहू, कबहूं औन मरद से छल किया होय तो ई साच्छी है। पर उहका हमार बिसवास नही...।

"हमार किस्मत फूटी है, अउर का हमसे कहित है—तू तो बदलू के साथ भाग रही थी। तेरे बाप ने जबरन तेरा वियाह हमसे कर दिया।"

"तुम ?...क्या ऐसी कोई बात थी ?"

शायद बताना नहीं चाह रही थी, पर मुंह से निकल गया था उसके। संकुचित होकर बोली, "ऊ कहत रहा पर उससे का होत है ?"

"कौन, बदलू ?"

वह अपनी सफाई देने लगी,"हम तो नहीं भागेन। ऊ कहत रहा—चल फुलमतिया, कहीं बहुत दूर भाग चलें, मेहनत मजूरी करके गुजर कर लेंगे। पर हम नाहीं गएन।

"ऊ कहत रहा—हमारे साथ नेपाल चल, ऊ मुलुक ऐसा नहीं है। पर हम कहा...हमका माफ करो बदलू ई हमसे न होई।"

इच्छा हो रही है उससे पूछूं, "न जाकर तुमने कौन-सा बड़ा कमाल कर दिखाया, फूलमती ? तुम बदलू के साथ भाग जाती तो कौन-सा इतिहास बिगड जाता और नहीं भागी तो कौन-सा बन गया है।"

पर वह यह सब समझेगी नहीं। उस दिन वह गोल कर गई थी पर आज मुझे अपने प्रश्न का उत्तर मिल गया है कि फुलमतिया के ब्याह की इतनी जल्दी उसके बाप को क्यों पड़ गई थी।

यह जो इसका आदमी है इससे ब्याह की बात फूलमती के बाप ने की थी। यह यहां से कुछ दिन के लिए 'देस' गया था। उसके बाप के साथ उठना-बैठना हुआ, बातचीत हुई। दोनों ने आपस में तय कर लिया।

बाप ने पहले तो काफी रोब से कहा, "लड़का सहर में रहता है, मिल में नौकरी करता है। राज करेगी लड़की।"

मां ने विरोध किया, "ई मरद हमार बिटिया के जोड़ का नहीं।

ऊ मे नाही करिबे।"

"ऊ काछी मे कर दे, हरामजादी !"

बाप दहाड़ा था।

"हमने सादी पक्की कर दी है उही होयगी।"

वह मा को पीटने को तैयार हो गया था।

बदलू को जब इस सब का पता चला तो वह उसके सामने खड़ा हो गया था, "साले, बियाह करेगा ? तू उसके लायक है ?"

"तू कौन होता है कमीने, दूसरन के मामले में बोलने वाला ?"

उसने बढकर इसकी गर्दन पकड ली। यह गिड़गिड़ाने लगा, "ओही का बाप कह रहा है बियाह करने को, हम थोडे ही कहन गए रहे। बदलू भैया, तुम बेफालतू मे बिगड़ रहे हो।"

"हमार बाप उइसेई सराब पी के महतारी को मारत रहा। हम भाग जाइत तो हत्या हुई जाती। अम्मा से कहत रहा, 'हरामजादी, तूने ही छोडिया को मूडे पे चढाया है। मैं तो इसके लच्छन देख के गर्दन काट के फेंक देता फिर चाहे फांसी हुई जाती।' "

मां ने फूलमती से पूछा था, "तू का कहती है फुलमतिया, ई मरद तो हमका जरा नाही सुहात है।"

फुलमतिया क्या कहती उसे तो डर था बाप और भाई मिलकर बदलू की हत्या कर डालेंगे।

बाप ने जिद पकड़ ली थी। महीने भर के अन्दर लड़का ढूंढने से लेकर शादी के फेरे तक, सब निबटा दिया।

मां ने रोते-रोते कहा था, "विधना मेहरारू का जलम काहे दिहिन जौन सपने मे सुख नाही। कबहूं चैन नाही—चाहे बाप होय चाहे खसम, जिनगी भर मरद की ताबेदारी करो।"

बिदा होती फूलमती ने समझाया "हमका हमार किस्मत पे छोड़ देओ अम्मां। हमार लिलार में जौन सुख-दुख बदा होई तौन जहां जाइब तहा पाइब। तुम सबुर करो।"

"अब तो हमार आखिन तले कोई नही आवत है, बहू।"

ठीक कहती हो, अब तुम्हारी आख तले कोई आयेगा ही क्यो !

"किस्मत है वहू, भाग तो ई मरद से जुड़ा रहा...।"

मुझे हँसी आ रही है, "जो हो गया वही किस्मत। भाग गई होतीं तो किस्मत में वह होता।"

"काहे मजाक करती हो वहू।"

उसे कैसे समझाऊं मैं कि मजाक नहीं कर रही हूं। वह इन सब बातों को नहीं समझती। उसे लगता है सब उस पर हँसेंगे, मजाक उड़ाएँगे। उसका चेहरा बड़ा दयनीय, बड़ा निरीह हो उठा है।

आज मेरा जन्म-दिन है। मनाती तो नहीं पर इन लोगों ने पिक्चर का प्रोग्राम बनाया है। 'इन्होंने' मुझे पिंक कलर की साड़ी प्रेजेन्ट की है।

मैं तैयार होकर आंगन में निकलती हूं। महरी चाह-भरी निगाहों से मेरी साड़ी की ओर देख रही है।

"बड़ा नीक रंग है।"

"अच्छा लगा तुम्हें?"

"हां, बहुत नीक है। हमार लिए भी आई रही एक ऐसई रंग की चुनरी।"

"कौन लाया था, पप्पू के बप्पा?"

वह बिगड उठी, "ऊ हरामजादा का लइहै! कबहूं एक नई धोती लाय के पहराय सकित हैं। हम चउका-बासन करके, आप लोगन का पुरान-धुरान पहिन के जिनगी गुजार दिहीन।"

"फिर कौन लाया तुम्हारी पसन्द की चुनरी।"

'हमार परसन्द से का होत है बहू! हमार बप्पा ने चिन्दी-चिन्दी करके मुंह पे फेंक मारिन, हमका एको बार बदन से छुआय पाएन?"

कौन लाया होगा, मैं सोच रही हू। भाई अपनी बहिन के लिए लाता तो बाप क्यों फाड के फेंक देता। मा भी नहीं लाई होगी, बाप के लाने का सवाल ही नहीं उठता। जो लाया था उसे बाप पसन्द नहीं करता था।

तब से फूलमती ने नई धोती ही कहां पहनी, गुलाबी रंग तो दूर

की बात है।

फूलमती की आंखों का मोह भरा सपना टूट गया है—हमेशा के लिए। उसके बाप ने गुलाबी चूनर की धज्जियां उड़ा दी हैं। पर जाने क्यों मुझे लगता है उसकी भटकती दृष्टि अब भी वही रंग खोज रही है।

मुझे याद आ रहा है कुछ दिन पहले पड़ोस के घर में शादी हुई थी। हम लोग बाहर निकल कर बारात देख रहे थे। महरी पहले तो रोशनी और बाजे देख-देखकर खुश होती रही पर जब दूल्हा देखा तो चुप हो गई। फिर अन्दर आकर बड़बड़ाने लगी थी।

"अईस सोने की मूरत अस लौंडिया और दुलहा जैस बबूर! काला कलूट अउर चेचक के गहरे दाग।"

"तो क्या हुआ पैसा तो खूब है उनके पास।"

"जोड न मिली तो जिनगी भर लरकिनी के मन मां कांटा अस चुभत रही बहू, ऊ कहे चाहे न कहे।"

मैं अवाक् उसका चेहरा देखती रह जाती हूं।

रामू की दुलहिन अपने मायके में बीमार पड़ी है, उसकी अम्मां कहती है, "समधिन देखन नाहीं आईं।"

"हमका कहां फुरसत है वहू जौन आधा घन्टा हुआं जाय के बैठी।"

"क्या बीमार पड़ गई ?"

"दुद्दुह घरन के बियाह मा रात दिन बरतन मांजिन है फिर अढ़ाई-सेर आटा की रोटी इह जून पोई, अढ़ाई सेर की ओह जून, छोटी-छोटी पतरी-पतरी। तौन बीमार हुई गईं। उनहिन पीछे तो... हम का करी। तोहर अम्मां ने पइसा वसूला ओही दवा करी। कौन ऊ आपन कमाई हमारे हाथ में धर दिहिन।

"हमार हियन रही तो ऊ खाली रोटी सेंकि लेत रही, बर्तन हम कबहूं नाहीं भजवावा रहे।"

"ये तो बुरी बात है, बहू तुम्हारी और काम का पैसा लें वो लोग।"

उसने बताया, श्यामू की सास कहती है, "उनकेर बिटिया होय तो बिटिया की कदर जाने। हम नाहीं भिजिबे।"

महरी के कोई लड़की नहीं है न।

वह बताती है—

"दुई बिटियां मरि गईं सब सामू भए। बड़ी मुसीबत उठाई रही। जब ई भवा तो सनकै ना, सब घबराय गए बहू। फिर नरस इहू का हिलावा-डुलावा, पीठ पे थप्पड़ मारेन, तब ई रोवा। फिर हम कान छिदाय दिहिन।"

नहीं भेजेगी रामू की सास अपनी बिटिया को, तो महरी क्या कर लेगी! पप्पू के ससुर ने अपनी लड़की डेढ़ साल से नहीं भेजी तो क्या कर लिया इसने? वे पैसे वाले हैं तभी इतना गुमान है। पर पप्पू को कुछ नहीं देते, सीधे मुंह बात भी नहीं करते। लड़की काली है और खूब तन्दुरस्त। वे तो कहते हैं, नहीं जाएगी ससुराल तो दूसरा ब्याह कर देंगे। बडे जबर हैं लड़कियों के बाप।

उंह, होते रहें—अपन को क्या! अपना तो बस काम चलता रहे। देखो, चार बज चुके हैं अभी तक आने का ठिकाना नहीं।

कभी-कभी तो इच्छा करती है छुड़ा दूं इसे। पर फिर तरस आ जाता है। कोई ढंग की मिलती भी तो नहीं। यह ईमानदार भी बहुत है। दो-तीन बार अंगूठी चौके में रखकर भूल गई, उठा ले जाती तो क्या कर लेती मैं उसका! आटा सनी अंगूठी। चूहे खींच ले गए

होंगे—यही होता। चौके में कोई देखने वाला था भी नहीं। पर उसने छुई तक नहीं। आवाज़ लगा कर बोली, "ई आटा मे सनी अंगूठी धरी है का? मूस उठाय लै जाई तो हमार नाम अइहै।"

वह हाथ जोड़ कर सिर तक ले जाती है, कहती है, "मांग के लै लेई बहू, चोरी करके पाप न चढ़ाई। ऊ जलम का भुगतान तो ई मे करित है, और अवगुन करी तो उहै जलम नसाय जाई।"

ओगुन-गुन की परिभाषा उसकी अपनी है, मेरा दखल तो [illegible] भी नहीं चलेगा।

बुढ़िया मुस्करा दी, चेहरे पर माधुर्य छलक उठा।

"का फायदा बहू, ई जनम तो गवा, ऊ जलम काहे बिगाड़ी ?"

बेवकूफ हो तुम, पहुंच में आए हुए से हाथ खीचकर यह जन्म तुमने खुद बिगाड़ा अब अगला नही बिगड़ेगा इसकी गारंटी दी है क्या किसी ने ? लेकिन उससे यह सब पूछना बेकार है कुछ समझेगी नही।

शादी के बाद इसका आदमी इसे लेकर यहा चला आया था फिर उसने मायके नही जाने दिया। चार बच्चे हो गए तब गई थी बाप के मरे पर—दस साल में कितना बदल गया था गाव, गाव के लोग।

वह कहती है, "अब तो हुआं जान को मन नाही करित है।"

आदमी ने देवी मैया की कसम धरा दी थी—कभी बदलू से बात करे तो बाप भाई, आदमी सबका मरा मुह देखने को मिले। छः बरस बाद जब दो बच्चों की मा हो गई थी तब उसने मायके जाने का हठ पकडा था। पर नही भेजा इसने। मा मर गई तब भी नही भेजा। गई तब जब बाप भी मर गया।

आदमी ने कह दिया था, "अगर बदलू की सकल भी देखे तो चारो लड़कन और हमारी लहास तोहरे सामने एक ही दिन मे उठ जाए। जाने क्या-क्या कसमें दिलाई थी उसने फुलमतिया को। वह लाचार हो गई थी—गाव गई और वह मिल गया तो...सामने ही पड गया तो ?

"फिर मिला था कभी ?"

नही, वह फिर कभी नही मिला। फूलमती की शादी के बाद कही चला गया था वह।

"नेपाल गवा होई" इसका अन्दाज है, "हुअन जान की हमेस कहत रहा। अच्छा भवा जौन नही मिला...।"

पर क्या सात फेरे फिरा देने और कसमें धरा देने से मन भी बध जाता है !

इसने कुछ सुख दिया होता, कुछ मन पूरा किया होता तो शायद उसे भूल गई होती। पर यहां मिलते हैं हरदम बदलू के नाम के ताने—भूले भी कैसे उसे !

होंगे—यही होता। चौके में कोई देखने वाला था भी नहीं। पर उसने छुई तक नहीं। आवाज लगा कर बोली, "ई आटा मे सनी अंगूठी धरी है का ? मूस उठाय लै जाई तो हमार नाम अइहै।"

वह हाथ जोड़ कर सिर तक ले जाती है, कहती है, "मांग के लै लेई बहू, चोरी करके पाप न चढ़ाई। ऊ जलम का भुगतान तो ई में करित है, और अवगुन करी तो उहै जलम नसाय जाई।"

ओगुन-गुन की परिभाषा उसकी अपनी है, मेरा दखल तो वहां भी नही चलेगा।

पिछली महरी तो बड़ी चोर थी। हमेशा कुछ न कुछ मांगती रहती थी—कभी रोटी दे दो पानी पीना है, कभी मिर्चें दे दो कभी प्याज। चाय पीने तो रोज ही बैठी रहती थी। बच्चों के कपड़े भी हमेशा चाहिए होते थे। इसके साथ ये कुछ झंझट नहीं। तालब बिल्कुल नहीं है इसमें। तभी तो निभा रही हूं।

वो महरी तो ऐसी थी कि दो नए पेटीकोट आंगन से गायब कर दिए और अपनी लड़की को दे आई। एक तो मैंने पहचान भी लिया—वही लेस लगी थी जो मैंने जोड़कर सिली थी। अपने हाथ की सिलाई मैं खूब पहचानती हूं। पर उसकी ब्याही लड़की से कहती भी क्या, और सफेद लट्ठे के पेटीकोट में कोई पहचान मानेगा ही क्यों ?

जब से ये आई है सुई तक नहीं गायब हुई—अपने काम से काम! हां, मुंह से बड़-बड़ करती रहती है। मन हुआ तो हां-हूं कर देती हूं नहीं तो चुपचाप किताब पढ़ती रहती हूं।

और वह कहती क्या है, "बहू, तुम्हारे आखिन से ऐस लगत है कि मन की बात पढ़ि लेत हो। तुम से हम कुछू छिपाय नाही सकित है।"

कसम भी दिला जाती है, "तुम्हार सामने हमका जाने का हुई जात है जौन सब बकि देत हैं। मुला तुमका कसम है जौन किसऊ का आगे बोलो।"

एक बार यों ही मैंने पूछा, "बदलू तुम्हारे लिए क्या-क्या लाता था ?"

बुढ़िया मुस्करा दी, चेहरे पर माधुर्य छलक उठा।

"का फायदा बहू, ई जनम तो गवा; ऊ जनम काहे बिगाड़ी ?"

बेवकूफ हो तुम, पहुंच मे आए हुए से हाथ खींचकर यह जन्म तुमने खुद बिगाड़ा अब अगला नही बिगड़ेगा इसकी गारंटी दी है क्या किसी ने ? लेकिन उससे यह सब पूछना बेकार है कुछ समझेगी नहीं।

शादी के बाद इसका आदमी इसे लेकर यहा चला आया था फिर उसने मायके नही जाने दिया। चार बच्चे हो गए तब गई थी बाप के मरे पर—दस साल में कितना बदल गया था गाव, गाव के लोग।

वह कहती है, "अब तो हुआ जान को मन नाहीं करित है।"

आदमी ने देवी मैया की कसम धरा दी थी—कभी बदलू से बात करे तो बाप भाई, आदमी सबका मरा मुह देखने को मिले। छः बरस बाद जब दो बच्चों की मां हो गई थी तब उसने मायके जाने का हठ पकड़ा था। पर नहीं भेजा इसने। मा मर गई तब भी नही भेजा। गई तब जब बाप भी मर गया।

आदमी ने कह दिया था, "अगर बदलू की सकल भी देखे तो चारों लड़कन और हमारी लहास तोहरे सामने एक ही दिन में उठ जाए। जाने क्या-क्या कसमें दिलाई थी उसने फूलमतिया को। वह लाचार हो गई थी—गाव गई और वह मिल गया तो...सामने ही पड गया तो ?

"फिर मिला था कभी ?"

नहीं, वह फिर कभी नही मिला। फूलमती की शादी के बाद कहीं चला गया था वह।

"नेपाल गवा होई" इसका अन्दाज है, "हुअन जान की हमेस कहत रहा। अच्छा भवा जौन नही मिला...।"

पर क्या सात फेरे फिरा देने और कसमें धरा देने से मन भी बंध जाता है !

इसने कुछ सुख दिया होता, कुछ मन पूरा किया होता तो शायद उसे भूल गई होती। पर यहा मिलते हैं हरदम बदलू के नाम के ताने—भूले भी कैसे उसे !

कई बार मैंने देखा है, कही हुई बात सुनती नहीं वह, कभी-कभी चुपचुप बैठी रहती है। मैं पूछती हू. "आज क्या बुढऊ से झगड़ा हो गया ?"

"इत्ती-इत्ती सी बात पर बुढ़ऊ हरामजादा ताना देत हैं—हां, बदलू होता तो तन मन सेवा करती, हमका कऊन पूछित है ?"

"हम कबहूं छिपाय नही किया बहू। बदलू कहा होई, कैसे होई हमका ऊ से कौनो मतलब नाही। मुला ई हरामजादा बिसवास ना करी।"

"बाबू लोगन से आखी लडाए बिना चैन नही पडता साली को," महरी का आदमी उससे कहता है।

जब वह जवान थी, आदमी को उसका घर से निकलना अच्छा नहीं लगता था। पर उसकी यह बात फूलमती ने नहीं मानी।

"घर मा घुसे-घुसे तो हमार जी ऊबत है, थोरा बाहर भीतर तो होय चाही।"

गांव की उन्मुक्त हवा मे पली लडकी शहर के कमरे में बन्द होकर जिएगी कैसे ! तभी वह कहती है, 'थोरा तुम पंचन से बतियाय लेत हैं मन अउर हुई जात है। कुछ पइसा-कपडा का सहारा हुई जात है। घर मां घुसे-घुसे मर जाई का बहू ?

"हम कमाइत हैं तो आपन ऊपर तो खरिच नाही लेविउ, उनहिन का पूरा करित है। पर ऊ हरामजादा कबहूं ना समझी।"

हजार विरोध के बावजूद भी वह उसे काम करने से नहीं रोक पाया। वह चिल्ला-चिल्ला कर कहती थी, "कौनो ऐब करा होय तो सबका सामने बताय देओ। हम काम काहे ना करी ?"

पहले कभी-कभी उसके काम वाले घरों मे चक्कर भी लगा आता था। अब कुछ वर्षों से नही आता। सोचता होगा बूढी हो गई है पर उलाहना देने से फिर भी नहीं चूकता।

कभी-कभी उसकी बातें सुनी नहीं जाती तो उठ कर चली आती हूं किसी काम के बहाने से।

कुछ देर पहले तुलसी के चौरे में जो दिया जलाया था उसका घी

चुक गया है अब धुंधुआती हुई बत्ती सुलग रही है। जरा-सी देर में यह रुई में चनकती चिंगारी धुएं की गहरी लकीर छोड़ कर विलीन हो जाएगी।

:--

ये अच्छी रही ! हारी-बीमारी में काम करने तो कोई न आए, कपड़े सबको चाहिए। सब के सब कमाते हैं पर सब खा-उड़ा डालते हैं—कभी मांस, कभी मछली, कभी और कुछ। और फिर जैसे के तैसे।

अब फिर मुझसे कमीज मांग रही है बुढ़ऊ के लिए। मैं जानती हूं बुढ़ऊ ने क्या कहा होगा, "मालो, अपने लिए खूब मांग लाती है और किसउ की चिन्ता नहीं।"

वैसे तो दे भी दूं पर यह सुनकर देने की इच्छा खतम हो जाती है।

उस दिन कह रही थी, "बहू, दस रुपैया चाही।"

मैं कुछ नहीं बोली। कठोर मुद्रा देखकर वह चुप हो गई। कुछ देर में बोली, "दस, नहीं तो पांच रुपैया मिल जाय बहू।"

"काहे के लिए ?'

"बुढ़ऊ बीमार पड़े हैं। तवा अइस तचि रहे हैं, बहू ! दवा-दारू कहस करी ?"

बुढऊ, श्यामू, पप्पू सभी तो कहीं-न-कहीं काम करते हैं, पर उधार देने के लिए हूं सिर्फ मैं ! कोई महीना ऐसा नहीं जाता जब उधार न मागती हो, और फिर भी बीच में तीन दिन काम पर नहीं आती।

"क्यों, सब तो कमा रहे हैं, तुम्हीं क्यों उधार मांगती हो ?'

वह बताती है—बुढ़ऊ तो हफ्ते भर से काम पर नहीं गए। पप्पू ने कमीज का कपड़ा खरीद लिया और श्यामू घर में रोज दो रुपये देता है, बस !

मैं खिसिया उठी हूं। ये तो बेवकूफ है ही और मुझे भी उल्लू बना रखा है।

वह गिड़गिड़ाने लगी, "बहुत कमजोर हुई गए हैं।

अन्न का दाना मुह में नहीं डालेन, यह ! चहा पी-पी के चेहरा उतरी गया है। रुपैया मिल जाई तो डबल रोटी, मुसम्मी लाय के खवइबे। मुला, ताकत न होई तो मिन मा काम कैस करी ?"

हार कर मैं दस रुपए लाकर पटक देती हूं।

' और किसी को फिकर नहीं तो तुम ही क्यों मरी जाती हो ?"

"हमार मन नाही मानत है, का करी ?"

"जब कोई हारी-बीमारी में भी तुम्हारा नहीं सोचता तो तुम्हें भी क्या करना ?"

"नाहीं बहू, ई सब हमार है। हमार मनई, हमार लरिका। हम मर जाई तो हमार मिट्टी कउन ठिकाने मे लगाई ?"

मरने के बाद ठिकाने लगने के ही लिए जिन्दगी के सरंजाम किए हैं तुमने ! सिर्फ उसी दिन की प्रतीक्षा में सम्बन्धों को निभाया है, यही इनकी सार्थकता है तो इतने लम्बे जीवन का तात्पर्य क्या है ? लेकिन उसका दिमाग इन उलझनों से परे है।

मैं चुप हूं। चुपचाप चाय बनाती हूं, उसे भी देती हू। हम दोनों चाया पी रहे हैं, वह चौके मे पट्टे पर मैं कमरे मे पलग पर—उदास-सी चुप्पी हम दोनों के बीच फैल गई है।

□ □

जन्म : मध्यप्रदेश—9 फरवरी, 1938
शिक्षा : एम. ए. बी. एड., (एम. ए. हिन्दी
मेरठ विश्वविद्यालय से प्रथमश्रेणी)
कार्य : स्नातकोत्तर आचार्य नरेन्द्रदेव महा-
विद्यालय, कानपुर (1971 से)
प्रकाश्य कृतियाँ : सीमा के बन्धन (1970)
(कहानी-संग्रह)